असाध्य रोग और आयुर्वेद

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

रोगोंकी कोई संख्या नहीं है। कितने रोग हो चुके हैं, कितने रोग हैं और कितने रोग होंगे; इसकी कोई इयत्ता नहीं है। महर्षि चरकने बताया है कि चिकित्सकोंके सामने यदि कोई ऐसा रोग आ जाय जिससे वे परिचित नहीं हों, तो वे उस रोगके सामने नतमस्तक न हो जायँ, यह न सोचें कि मैं इस रोगको जानता नहीं तो इसकी चिकित्सा कैसे करूँ? आजतक किसी चिकित्सापद्धतिमें न तो ऐसी कोई पुस्तक है और न हो सकती है कि जिसमें भूत, भविष्य एवं वर्तमानके समस्त रोगोंका नाम लिखा गया हो। आयुर्वेदने बताया है कि रोग भले असंख्य हैं, किंतु उनके निदान संक्षिप्त और सूत्रबद्ध हैं। इसलिये उस रोगसे लड़ा जा सकता है और उसे समाप्त भी किया जा सकता है। अत: चिकित्सकको किसी नये रोगसे न घबड़ाकर उसकी चिकित्साके लिये दत्तचित्त हो जाना चाहिये। यह महर्षि चरकका आदेश है—

विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थिति:॥

(चरक० सू० १८।४४)

इसी आधारपर आज भी दुनियामें असाध्य माने गये कुछ रोगोंकी चिकित्सा सफल रही है। यहाँ इनमेंसे कुछ रोगोंका संक्षेपमें उल्लेख इसलिये किया जा रहा है कि इनपर जो अनुसंधान करनेवाले हैं वे अनुसंधान करें और जो इस रोगसे ग्रस्त हैं, वे इससे लाभ उठायें—

(१) बिना नामका रोग

एक रोगीको देखा गया कि उसके दाहिने हाथकी कलाईके तीन हिस्से सूख गये हैं, एक हिस्सा बचा है। उसके उसी हाथकी दो अँगुलियाँ कंधेसे लग गयी हैं, उस हाथको हिलाना या इधर-उधर करना सम्भव न था। वह रुग्ण हाथ केवल बेकार ही नहीं हुआ था, अपितु तकलीफ भी देता रहता था। रोगीका सोना भी कठिन हो रहा था, इस विलक्षण रोगको देखकर हतप्रभ होना पड़ा। उससे पहला प्रश्न था—यह रोग तो पुराना दीखता है, इसकी चिकित्सा क्यों नहीं करायी? रोगीने कहा—तीन वर्षोंसे दवा करा रहा हूँ, किंतु दिनोंदिन रोग बढ़ता ही जा रहा है। मैंने कहा—इस रोगका मैं न तो नाम जानता हूँ और न चिकित्सा ही। यह नया रोग है, मेरे लिये अनजान है, आप विज्ञानकी शरणमें जायँ। छ: महीनेके बाद रोगी लौटा। उसने कहा कि छ: महीनोंतक तरह-तरहकी जाँच हुई, अंतमें यह कहा गया कि इस रोगकी दवा अभी निकली नहीं है। इस सिलसिलेमें भारतके चोटीके चिकित्सास्थानोंमें वह रोगी दौड़ चुका था। रोगी जब छ: महीनेके बाद फिर लौटा तो चरकके आदेशसे बाध्य होना पड़ा। सहानुभूतिका तकाजा अलग था।

यह तो साधारणतया समझमें आ ही गया था कि हृदयसे जिन रक्तवाहिनियोंके द्वारा रक्तका जो संचार होता है, उनमेंसे किसीमें अवरोध आ गया है, इस अवरोधको रसराज आदि औषध दूर कर सकता है। फिर प्रकृति और वात, पित्त तथा कफका सामञ्जस्य बैठाकर दवा की गयी। उस दवासे वह रोगी रोगमुक्त हो गया। हाथके सूखे हुए भाग फिर पहलेकी आकारमें आ गये और अँगुलियोंने लिखने-पढ़नेका काम भी सँभाल लिया। धीरे-धीरे वजन उठानेकी आदत डाली गयी। अब वह बीस किलो वजनकी चीज उठा लेता है और उसको लेकर चल भी सकता है। उसे निम्नाङ्कित दवाएँ दी गयीं—

(१) रसराजरस-१$\frac{1}{2}$ ग्राम, (२) स्वर्णभस्म-२० मिलीग्राम, (३) महाशङ्खवटी-२ ग्राम, (४) कृमिमुद्गररस-३ ग्राम, (५) प्रवालपञ्चामृत-३ ग्राम, (६) पुनर्नवामंडूर-३ ग्राम, (७) चन्द्रप्रभावटी-३ ग्राम, (८) सीतोपलादि-२५ ग्राम। कुल=२१ पुड़िया।

लाभ कम दीखनेपर रसराजकी मात्रा धीरे-धीरे बढ़ाकर ३ ग्रामतक ली जा सकती है।

(१) सुबह-शाम एक-एक पुड़िया शहदसे लेकर एक-पुटिया लहसुन काटकर खाना चाहिये। शीत-ऋतुमें यह एकपुटिया लहसुन पाँच-पाँच नगतक लिये जा सकते हैं।

(२) पचास ग्राम साधारण लहसुनको दो चम्मच तिल्ली या सरसोंके तेलमें पीसकर उबटन बनाना चाहिये।

बहुत महीन नहीं पीसे। फिर घायल हाथमें ऊपरसे नीचेतक उबटन लगाये।

सावधानी—उबटन लगाते समय लहसुनको घायल हाथपर धीरे-धीरे रगड़ें। इसे आधे मिनटके लिये भी छोड़ दिया जाय तो त्वचा जल जायगी।

(३) १० ग्राम ईसबगोलकी भूसी दूध या पानीसे लेकर कैस्टर ऑयल १ से ४ चम्मचतक ले। कैस्टर ऑयल लेनेका प्रकार यह है कि पावभर दूधमें चीनी मिला ले। आठ चम्मच दूध निकाल ले। उसमें एकसे चार चम्मचतक कैस्टर ऑयल सुविधाके अनुसार मिलाये। इतना मिलाये जितनेसे एक बारमें पेट साफ हो जाय।

विशेष सूचना—जाड़ेके दिनोंमें आधा अगहन बीत जानेपर एकपुटिया लहसुनका कल्प कर लें। नीरोग रहनेके लिये स्वस्थ व्यक्ति भी कल्प कर सकता है।

उपर्युक्त रोगमें तो प्रत्येक जाड़ेमें इस कल्पका सेवन आवश्यक होता है। २५० ग्राम मलाई निकाला हुआ दूध कड़ाहीमें डालकर उसी दूधमें २५० ग्राम पानी मिला दें। इस पानीमिले दूधमें एकपुटिया लहसुन कुचलकर पहले दिन एक, दूसरे दिन दो—इस तरह एक-एक बढ़ाते हुए पंद्रहवें दिन पंद्रह लहसुन डालें। आधा फाल्गुनतक पंद्रह-पंद्रह डालते रहें। उसके बाद चौदह, तेरह, बारह इस क्रमसे एक-एक कम करते हुए ज्येष्ठ आनेके पहलेतक दो-दो डालते रहें। प्रतिदिन वायविडंगका दरदरा चूर्ण १० ग्राम, अर्जुनकी छालका दरदरा चूर्ण ५ ग्राम, १० ग्राम शतावरका चूर्ण, ३ ग्राम असगंधका दरदरा चूर्ण दूध-पानीमें डालकर धीमी आँचमें पकावें। पानी जल जानेपर अर्थात् दूध शेष रहनेपर छानकर सबको फेंक दें। इस दूधमें तीन छोटी इलायचीका चूर्ण और इच्छाके अनुसार चीनी मिलाकर दूधको पी लें।

(२) स्क्लेरोडर्मा (Scleroderma)

आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें इस रोगके सम्बन्धमें कोई जानकारी दी गयी है, यह ढूँढ़ा न जा सका, किंतु आयुर्वेदने बताया है कि प्रकृति, वात, पित्त, कफ और उपसर्गके द्वारा सभी रोगोंको समझा जा सकता है और उसकी चिकित्सा भी की जा सकती है। इसी आधारपर रोगीको रोगसे मुक्त करनेमें सफलता मिल जाती है।

विज्ञानद्वारा इसका परिचय—आजके चिकित्सा-विज्ञानने इस रोगके सम्बन्धमें जानकारियाँ प्राप्त कर ली हैं। विज्ञानका मानना है कि यह एक संयोजी ऊतकों (Connective Tissue)-के विकारसे उत्पन्न होनेवाला रोग है। यह रोग, रोगप्रतिरोधी क्षमताकी कमीसे उत्पन्न होता है। इस रोगमें छोटी रक्तवाहिकाओंका भीतरी स्तर मोटा हो जाता है। यह रोग प्राय: ३० से ६० वर्षकी अवस्थामें उत्पन्न होते देखा गया है। कम रक्तप्रवाहके कारण प्राय: अँगुलियाँ पीली पड़ जाती हैं। धीरे-धीरे मुर्दा-सी हो जाती हैं।

कुछ लक्षण—(१) अँगुलियोंका सड़ना, (२) अँगुलियोंको घुमानेमें कठिनाई होना, (३) त्वचाकी ऊपरी सतहका एकदम पीला होना, (४) मुँहको फैलानेमें असमर्थताका अनुभव होना, (५) अस्थियोंपर पायी जानेवाली त्वचामें कसाव परिलक्षित होना।

रोग जब विकसित हो जाता है तब पाचनतन्त्रमें विकार, मांसपेशीका क्षय और वेदनाकी अनुभूति होती है।

रोगोंके निदानमें आजके विज्ञानने अत्यधिक सफलता प्राप्त कर ली है। इस रोगके भी परीक्षणसे प्राय: ५०% व्यक्तियोंमें Antinuclear antibody +ve (धनात्मक) पाया जाता है।

इस तरह रोगके निदानमें तो सफलता मिल गयी है, किंतु अभीतक यह रोग विज्ञानके लिये असाध्य है; क्योंकि कोई भी कारगर दवा अभी नहीं निकली है। प्रडिनसोलोन (Prednisolone)-से तात्कालिक लाभ पहुँचाया जाता है।

सफल चिकित्सा न होनेके कारण इस रोगसे प्राय: ७०% रोगी ही पाँच वर्षतक जीवित रह पाते हैं।

आयुर्वेदके द्वारा साध्य—आयुर्वेदमें रसराज नामका एक औषध है, उसका काम है रक्तवाहिनियोंका प्रसारण करना। इस औषधसे रक्तवाहिनीमें जितने विकार आ जाते हैं, उनका भी सफाया हो जाता है और उचित स्थानोंपर रक्तका सञ्चार प्रारम्भ हो जाता है। इस दृष्टिकोणसे स्क्लेरोडर्मा रोगमें यह औषध सफल हो जाता है। दवाका संयोजन निम्न प्रकारसे किया जाय—

(१) रसराजरस-१ ग्राम, (२) स्वर्णभस्म-३० मिलीग्राम, (३) प्रवालपञ्चामृत-३ ग्राम, (४) चन्द्रप्रभावटी-३ ग्राम, (५) कृमिमुद्गररस-३ ग्राम, (६) सीतोपलादि-२५

ग्राम, (७) मोतीपिष्टी-१ ग्राम। कुल ३१ पुड़िया बनाकर एक-एक पुड़िया शहदसे तीन बार (सुबह-दोपहर एवं शाम) लेना चाहिये।

जो लोग लहसुन खाते हों, वे एकपुटिया लहसुन (बलानुसार एक-एक बढ़ायें) काटकर दवाकी खुराक लेनेके बाद पानी अथवा ५० ग्राम दूधसे ले लें।

सूचना—यदि ब्लडप्रेशर न हो तो १० दिनके बाद उपर्युक्त योगमें रसराजकी मात्राको दो ग्राम कर दें। फिर २१ वें दिनसे ३-३ ग्राम कर दें। पेट साफ न होता हो तो रातको छोटी हर्रेका प्रयोग करें।

पथ्यका पालन करना आवश्यक है। बिना चुपड़ी रोटी, मूँग या चनेकी दाल, नेनुवा, लौकी, परवल, पपीता, भिंडी, करेला, सहजन आदि लें। बथुआ छोड़कर पत्तीका और कोई शाक न लें। खोआ और तली-भुनी चीजें न खायें।

(३) हिपेटाइटिस-बी

ऑस्ट्रेलियाई वायरसके द्वारा 'हिपेटाइटिस-बी' रोग हो जाता है। यह रोग होने न पाये, इसका उपाय आजके विज्ञानने सोच लिया है। महीने-महीनेपर एक सुई लगायी जाती है, जिससे कहा जाता है कि इस सुईको लगवानेवाले व्यक्तिको हिपेटाइटिस-बी नहीं हो सकेगा। किंतु हिपेटाइटिस-बी रोग जब हो जाता है तब आजके विज्ञानके पास ऐसी कोई दवा नहीं है, जिससे रोगीको मृत्युके मुखसे बचाया जा सके। शत-प्रतिशत मृत्यु हो जाती है।

रोगका कारण—इस रोगमें ऑस्ट्रेलियाई वायरस खान-पानके द्वारा मुखमार्गसे शरीरमें प्रविष्ट हो जाते हैं और यकृत् (लीवर)-में अड्डा जमा लेते हैं। जब इनका पूरा परिवार विकसित हो जाता है, तब यकृत्की पित्तस्रावक्रियामें अवरोध हो जाता है और यकृत् फूलकर पेटमें फैल जाता है जिसको छूकर हम प्रत्यक्ष कर सकते हैं। इसके बाद असह्य पीडा होने लगती है, हाथ-पैर ठंडे होने लग जाते हैं और रोगीका प्राणान्त हो जाता है।

आयुर्वेद प्राचीनकालसे यकृत्-सम्बन्धी व्याधियोंकी चिकित्सा सफलतापूर्वक करता आ रहा है। आज भी यकृत्की सारी व्याधियोंकी चिकित्सा (कैंसर छोड़कर) आयुर्वेदसे हो जाती है।

हिपेटाइटिसका सामान्य अर्थ पीलिया होता है। इस रोगमें गदहपूर्णा (पुनर्नवा)-जड़का स्वरस ५०-५० ग्राम सुबह, दोपहर, शाम—तीन बार दिया जाता है। मूलीका रस सबेरे और ईखका रस कई बार प्रयोग किया जाता है। आजकल ईखके रसकी जगह ग्लूकोज दे दिया जाता है। ग्लूकोज बड़ी मात्रामें (सौ-सौ ग्राम) तीन-चार बार पिलाते रहना चाहिये। इस तरह हिपेटाइटिस-बीका मुख्य औषध तो गदहपूर्णाका रस है। अन्य ओषधियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) पुनर्नवामण्डूर-३ ग्राम, (२) प्रवालपञ्चामृत-३ ग्राम, (३) रससिन्दूर-२ ग्राम, (४) सितोपलादि-५० ग्राम—इन सबोंकी ३१ पुड़िया बनायें। एक-एक पुड़िया सुबह-दोपहर-शाम खाकर ग्लूकोज मिला हुआ गदहपूर्णाका रस लेते जायँ। शौचशुद्धिके लिये छोटी हर्रेका उपयोग करें। आँवलेका रस भी हितकारी है। इस रोगमें हल्दी घोर अपथ्य है।

आधुनिक परीक्षण कराते रहें। औषध डेढ़-दो महीने चलाना चाहिये।

(४) कैंसर

जिन असाध्य रोगोंकी चर्चा यहाँ की जा रही है, उनमें कैंसर आज भी साध्य नहीं माना जाता। क्योंकि अभीतक इसमें कोई ठोस परिणाम उपलब्ध नहीं हो सके हैं। किंतु आजके विज्ञानने बहुत-से रोगोंको प्रत्यक्ष-सा कर लिया है। इस तरह निदानक्षेत्रमें इसे बहुत ही सफलता मिली है। कैंसर रोग जब प्रमाणित हो जाय तो निम्न चिकित्सासे सफलता मिली है।

इस निबन्धमें किसी भी रोगका पूरा-पूरा निदान न लिखकर इससे स्वास्थ्य प्राप्त करनेका तरीका ही लिखा जा रहा है; क्योंकि प्रत्यक्ष निदान तो विज्ञानसे ही सम्भव है। फिर भी इस रोगसे बचावके लिये कुछ जानकारी अपेक्षित है, यथा—

(१) शरीरमें पड़े तिल, मस्से आदिके वर्ण एवं आकारमें परिवर्तन होना, (२) घावका न भरना, (३) स्तन, ओष्ठ आदि किसी अङ्गपर गाँठका बनना, (४) मलकी अतिप्रवृत्ति या क़ब्ज़का होना, (५) वजन कम होना, (६) अकारण थकावट महसूस होना।

इन लक्षणोंके होनेपर चिकित्सकोंसे अपना परीक्षण कराना आवश्यक है।

कैंसरमें किसी अङ्गके ऊतककी केशिकाओंमें असीम रूपसे विभाजन होने लगता है, जिससे यह व्याधि निरन्तर बढ़ती रहती है। केशिकाएँ पोषक तत्त्वोंको चूसकर अन्य अङ्गोंको अस्वस्थ कर देती हैं।

अनुभूत औषध—यहाँ अनुभूत औषध दिये जा रहे हैं, जिनसे कैंसर रोगकी रोकथाम तो होती ही है, हो जानेपर उसे निर्मूल भी किया जा सकता है। फेफड़ेके कैंसर भी अच्छे हो गये हैं। लीवरकैंसरपर इसका उपयोग सन्देहास्पद रहा है।

सेमिनोवा कैंसरको तो निश्चित और शीघ्र ही ठीक किया जा सकता है। हाँ, कार्सिनोवा कैंसरमें देर लगती है। किंतु जो दवा लिखी जा रही है, उससे लाभ-ही-लाभ होना है। कोई प्रतिक्रिया नहीं होती।

(१) सिद्धमकरध्वज-१ ग्राम, (२) स्वर्णभस्म-३० मिलीग्राम, (३) नवरत्नरस-३ ग्राम, (४) प्रवालपञ्चामृत-३ ग्राम, (५) कृमिमुद्गररस-३ ग्राम, (६) बृहद्योगराजगुग्गुल-३ ग्राम, (७) सितोपलादि-५० ग्राम, (८) अम्बर-१/४ ग्राम, (९) पुनर्नवामण्डूर-३ ग्राम, (१०) तृणकान्तमणिपिष्टि-३ ग्राम।

खून आनेकी स्थितिमें बीच-बीचमें एक कप दूब (दूर्वा)-का रस भी ले लेना चाहिये। इसे दवाके साथ ही लेना कोई आवश्यक नहीं है।

सेवन विधि—सभी दवाओंको अच्छी तरह घोंटकर ४१ पुड़िया बनाये। सुबह एक पुड़िया शहदसे चाटकर ताजा गोमूत्र पीये। बछियाका गोमूत्र ज्यादा अच्छा माना जाता है। उसके अभावमें स्वस्थ गाय जो गर्भवती न हो, उसका मूत्र भी लिया जा सकता है। गोमूत्र सारक (दस्तावर) होता है इसलिये सबको एक तरहसे नहीं पचता है। इसे आधी छटाकसे शुरू कर २०० ग्रामतक बढ़ाना चाहिये।

दूसरी खुराक ९ बजे दिनमें तथा तीसरी तीन बजे शामको गेहूँके पौधेके रससे लेनी चाहिये। गेहूँके पौधेका रस भी आधी छटाकसे शुरू कर २००-२०० ग्रामतक होना चाहिये। देशी खाद डालकर गेहूँका पौधा लगा देना चाहिये। दूसरे दिन दूसरी जगह लगाना चाहिये। इसी तरह प्रतिदिन १० दिनतक अलग-अलग स्थानोंपर गेहूँ बोना चाहिये। दसवें दिनका पौधा काटकर, धोकर, पीसकर उसका रस लेना चाहिये। काटनेके बाद उसी दिन फिर गेहूँ बो देना चाहिये। इस तरह प्रतिदिन काटना-बोना चाहिये।

जबतक गेहूँ तैयार न हो और गेहूँके पौधेका रस न मिले तबतक दूसरी और तीसरी पुड़ियाको तीन ग्राम कच्ची हल्दीका रस—लगभग दो चम्मच (कच्ची हल्दी न मिलनेपर सूखी हल्दीका चूर्ण १ चम्मच) और दो चम्मच तुलसीका रस मिलाकर दवा लेनी चाहिये।

हरिद्राखण्ड (हरिद्राखण्ड नामका चूर्ण प्रत्येक औषधनिर्माता बनाते हैं)-को मुँहमें रखकर बार-बार चूसते रहना चाहिये। चूसनेके पहले गरम पानी और नमकसे दाँतोंको सेंकना चाहिये।

यदि गले या स्तन आदिमें कहीं गाँठ हो गयी हो तो उसको गोमूत्रमें हल्दीका चूर्ण मिलाकर गरमकर साफ रूईसे सेंकना चाहिये और इसीकी पट्टी लगानी चाहिये।

यदि घाव हो गया हो तो नीमके गरम पानीसे सेंककर मन:शिलादि मलहम लगाना चाहिये।

सावधानी—यह मलहम जहर होता है, इसलिये मुखवाले (घाव) रोगमें इसे न लगायें। अपितु कभी-कभी रूईको गोमूत्रमें भिगाकर उस स्थानपर रख दें या कच्ची हल्दीका रस या सूखी हल्दीके चूर्णके रसको रूईद्वारा इस स्थानपर रख दें। सुबह-शाम दो बार नीमके पानीसे सेंकना आवश्यक है। मलहम लगाकर हाथोंको राखसे खूब साफ करना चाहिये। छ: बारतक गरम चाय पीयें और हरिद्राखण्ड चूसते ही रहें।

इस रोगमें हरी पत्तीकी चाय बहुत उपकार करती है। चौबीस घंटेमें हरी पत्तीवाली चायकी मात्रा ५ ग्राम ही होनी चाहिये। इसीको दूध मिलाकर चाय बनाकर बार-बार पीते रहना चाहिये। इससे ताकत बनी रहती है और रोग बढ़ने नहीं पाता।

(५) प्लास्टिक एक्जिमा

प्लास्टिक एग्जिमाके रोगका निर्णय हो जानेपर निम्नलिखित दवाका सेवन करें—

पुनर्नवामण्डूर-४ ग्राम, स्वर्णभस्म-३० मि०ग्राम, मोतीपिष्टी-१ ग्राम, प्रवालपञ्चामृत-३ ग्राम, कृमिमुद्गररस-३ ग्राम, सिद्धमकरध्वज-१ ग्राम, चन्द्रप्रभावटी-४ ग्राम,

सितोपलादि-२५ ग्राम, कासीसभस्म-२ ग्राम। कुल ४१ पुड़िया। गोमूत्रसे ९ बजे दिन तथा ३ बजे दिनमें तथा शामको गेहूँके पौधेके रसके साथ एक पुड़िया शहदसे चाट लें।

विशेष सूचना—उपर्युक्त सभी अनुपानोंमें ३-३ चम्मच लीवोसिन या लिवोकल्प मिला लें तो उत्तम लाभ हो।

(६) पथरी

पथरीका रोग आज आम बात हो गयी है। साठ-सत्तर वर्ष पहले भोजनमें कुलथीकी दाल खायी जाती थी। बाजारमें मिलती थी। किंतु इधर लोगोंने उसको खाना बंद कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज पथरीका रोग वेगसे बढ़ रहा है। यदि कुलथीका पानी भी पिया जाय तब इस रोगको या तो निकाला जा सकता है या गलाया जा सकता है। मूत्रवहा नाडीका पत्थर शीघ्र ही निकल जाता है। यदि यह वृक्कमें हो जाता है तो देर लगती है; क्योंकि वहाँसे निकाला नहीं जा सकता। हाँ, गलाया जा सकता है। दोनों स्थितियोंमें शल्यकर्मकी आवश्यकता नहीं रहती। कुलथी अपने प्रभावसे उस रोगको जड़मूलसे साफ कर देती है। औषध एवं उसके सेवनकी विधि इस प्रकार है—

(१) हजरल जहूर भस्म-३ ग्राम, (२) श्वेतपर्पटी-३ ग्राम, (३) पाषाणभेद-३ ग्राम, (४) चन्द्रप्रभावटी-४ ग्राम।

इन सबकी २१ पुड़िया बनायें। सुबह-शाम एक-एक पुड़िया निम्नलिखित काढ़ेसे लें—

काढ़ा—(१) कुलथी (या दाल)-१०० ग्राम, (२) वरुण (वरुणा)-की छाल-१५ ग्राम, (३) गदहपूर्णाकी जड़-१० ग्राम, (४) छोटी गोखरू-६ ग्राम, (५) बड़ी गोखरू-६ ग्राम, (६) भिंडीका बीज-३ ग्राम, (७) पानी-५०० ग्राम (आधा किलो)।

इन सबको जौकूट (जौके बराबर) चूर्ण कर लें। काढ़ेकी दवाओंको बहुत महीन न करें। जौकूट-चूर्णको आधा किलो पानीमें रातमें भिगो दें। सबेरे धीमी आँचपर काढ़ा बनायें। शेष १०० ग्राम रहनेपर उतार लें। ५० ग्राम काढ़ा सुबह एक पुड़िया खाकर पी लें।

पथ्य—नेनुवा, लौकी, परवल, पपीता, करेला आदि सब्जियोंको हल्के तेलमें जीरेसे छौंककर धनिया, हल्दी, काली मिर्च—इन मसालोंको खाया जा सकता है। गरम मसाला न लें।

अपथ्य—कैल्सियमकी वस्तुएँ जैसे दूध और रत्नोंका भस्म एवं टमाटर न लें।

सूचना—यदि यूरेटरमें बड़ा पत्थर होता है तो इन दवाओंसे निकलते समय दर्द महसूस होता है, इस दर्दको शुभ लक्षण समझना चाहिये। क्योंकि पत्थर अपने स्थानसे हटकर पेशाबके रास्ते निकलना चाह रहा है। ऐसी स्थितिमें बार-बार खूब पानी पीना चाहिये। इससे उसके निकलनेमें सुविधा होती है। यदि पथरी छोटी होती है तो तकलीफ नहीं होती, आसानीसे निकल जाती है। बड़ी पथरी निकलनेके बाद देखनेमें मांसका टुकड़ा लगता है; क्योंकि मांसको काटते हुए बाहर निकलता है, उसे रख दिया जाय तो बारह घंटे बाद वह पत्थर नजर आने लगता है। इस पत्थरका रंग हजरल जहूर पत्थरकी तरह नीलाभ होता है।

(७) प्रोस्टेड ग्लैंड (पौरुषग्रंथि)

पौरुषग्रंथिका रोग केवल पुरुषोंको ही होता है; क्योंकि पुरुषोंमें ही यह ग्रंथि पायी जाती है। पाँच वर्ष पहलेतक शल्यकर्म बार-बार करनेसे भी प्रायः यह रोग नहीं जाता था, किंतु आयुर्वेदिक औषधके सेवनसे यह रोग समूल नष्ट किया जा सकता है।

औषध—(१) काञ्चनार गुग्गुल-२५ ग्राम, (२) चन्द्रप्रभावटी-५ ग्राम, (३) चतुर्मुख रस १/४ ग्राम, (४) प्रवालपञ्चामृत-३ ग्राम, (५) ताम्रभस्म-१/८ ग्राम—इन सबकी २१ पुड़िया बनायें। एक पुड़िया दवा खाकर निम्नलिखित काढ़ेमें ८ बूँद शिलाजीत और २ ग्राम शीतल चीनी चूर्ण मिलाकर पी लें। सुबह-शाम लें। अपने संतोषके लिये दो-दो महीनेपर जाँच करायें। छः महीनेमें रोग समाप्त हो जायगा।

काढ़ा—(१) वरुण (वरुणा)-की छाल-१५ ग्राम, (२) गदहपूर्णाकी जड़-१० ग्राम, (३) छोटी गोखरू-६ ग्राम, (४) बड़ी गोखरू-६ ग्राम, (५) पञ्चतृणमूल अर्थात् (क) ईखकी जड़-३ ग्राम, (ख) कासकी जड़-३ ग्राम, (ग) साठी धानकी जड़-३ ग्राम, (घ) कुशकी जड़-३ ग्राम। (ङ) शरकण्डेकी जड़-३ ग्राम, (७) सहजनकी छाल-१० ग्राम।

आधा किलो पानीमें काढ़ा बनायें। १०० ग्राम शेष रहनेपर ५० ग्राम सुबह तथा ५० ग्राम शाम दवाके साथ लें।

विशेष—यदि मूत्रमें दाह हो तो तीन बूँद चन्दनका

तेल तथा तीन ग्राम शीतल चीनीका चूर्ण काढ़ेमें मिला लें।

परहेज—पूर्वकी तरह।

(८) मायोपैथी

यह मांसपेशियोंका रोग है। विज्ञानकी जाँचसे जब यह रोग ज्ञात हो जाय, तब इसकी चिकित्सा प्रारम्भ करे। वैसे यह रोग असाध्य है। किसी पैथीमें इस रोगको हटानेकी क्षमता नहीं है। आयुर्वेदसे इस रोगमें कितना प्रतिशत लाभ होता है, ठीकसे नहीं कहा जा सकता। हाँ, एक रोगी, जिसने आजसे आठ-दस वर्ष पहले आयुर्वेदकी दवा की थी, वह आज भी स्वस्थ है। इसी आधारपर इस रोगकी दवा लिखी जाती है। जब रोगीने इस दवाको प्रारम्भ किया था तब उसकी अवस्था बारह वर्षकी थी।

विशेष—जो दवा लिखी जा रही है, वह प्रारम्भमें बहुत ही लाभ पहुँचाती है। रोगीको लगता है कि वह पाँच-छः महीनेमें ठीक हो जायगा; किंतु पीछे चलकर यह दवा सात्म्य (प्रभाव-विहीन-सी) होने लग जाती है और रोगीको अनुभव होता है कि अब मुझे लाभ नहीं हो रहा है, वैसी स्थितिमें दवाकी मात्रा बढ़ानी पड़ती है। इस रोगकी यह बड़ी विशेषता है। रोगीको घबड़ाना नहीं चाहिये।

इस रोगकी दूसरी विशेषता यह है कि इस रोगमें एक खुराक निरूढ़ वस्तिसे देना आवश्यक हो जाता है। इसके बिना केवल खानेसे लाभ नहीं पहुँचता।

दवाका क्रम—

(१) रसराजरस-डेढ़ ग्राम, (२) वृहद्वातचिन्तामणिरस-आधा ग्राम, (३) मल्लसिन्दूर-डेढ़ ग्राम, (४) प्रवालपञ्चामृत-तीन ग्राम, (५) कृमिमुद्गररस-तीन ग्राम, (६) गिलोयसत-पचीस ग्राम—इन सबकी इकतीस पुड़िया बना लें।

सेवनविधि—एक पुड़िया सुबह एक पुड़िया शामको शहदके साथ लें। जो लोग लहसुन खाते हैं, वे एकपुटिया लहसुन एकसे तीनतक काटकर निगल लें। तीसरी पुड़िया निरूढ़ वस्तिसे लेनी है। वस्तिको एनिमा कहते हैं। आयुर्वेदने तीन प्रकारकी वस्तियाँ मानी हैं। इनमें दो तरहकी वस्तियाँ तो सभी पैथियोंने अपना ली हैं, किंतु निरूढ़वस्तिका प्रचलन किसी पैथीमें नहीं है। जो दवा मुखसे लेनेपर उतना कारगर नहीं होती, वह निरूढ़वस्तिसे अधिक लाभप्रद हो जाती है। प्रस्तुत रोगमें निरूढ़वस्तिके बिना दवा लाभप्रद नहीं हो पाती। इस रोगकी यह विशेषता है।

सावधानी—उपर्युक्त दवाकी पुनः इक्कीस पुड़िया बनाकर अलग रख लें। जब पहली दवाका प्रभाव कम पड़ता दीख पड़े तो इक्कीस पुड़ियोंमेंसे आधी पुड़िया सुबहकी दवामें तथा आधी पुड़िया शामकी दवामें मिला लें। यदि इसका भी प्रभाव कम पड़ने लगे तो एक-एक पुड़िया पहलीवाली दवामें मिलाकर पूर्वोक्त विधिसे सेवन करें।

विशेष—(१) इस रोगमें बीस मिनटतक भस्त्रिका-प्राणायाम करना चाहिये। भस्त्रिका-प्राणायामके बहुत भेद हैं। यहाँ निम्नलिखित प्रकारका भस्त्रिका-प्राणायाम करे—

'भस्त्रिका' का अर्थ है 'भाथी'। भाथी इस गहराईसे वायु खींचती है कि जिससे उसके प्रत्येक अवयवतक वायु पहुँच जाती है और वह पूरी फूल उठती है तथा यह इस भाँति वायु फेंकती है कि उसका प्रत्येक अवयव भलीभाँति सिकुड़ जाता है। इसी तरह भस्त्रिका-प्राणायाममें वायुको इस तरह खींचा जाता है कि फेफड़ेके प्रत्येक कणिकातक वह पहुँच जाय और छोड़ते समय प्रत्येक कणिकासे वह निकल जाय।

प्रातः खाली पेट शवासनसे लेट जाय। मेरुदण्ड सीधा होना चाहिये। इसलिये चौकी या जमीनपर लेट जाय, फिर मुँह बंद करके नाकसे धीरे-धीरे श्वास खींचे। जब खींचना बंद हो जाय, तब मुँहसे फूँकते हुए धीरे-धीरे छोड़े, रोके नहीं। यह प्रयोग बीस मिनटसे कम न हो। खाली पेट करे। यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि श्वासका लेना और छोड़ना अत्यन्त धीरे-धीरे हो। इतना धीरे-धीरे कि नाकके पास हाथमें रखा हुआ सत्तू भी उड़ न सके—

न प्राणेनाप्यपानेन वेगाद् वायुं समुच्छ्वसेत्।
येन सक्तून् करस्थांश्च निःश्वासो नैव चालयेत्॥

(२) जैसे-जैसे ताकत मिलती जाय वैसे-वैसे घर्षण स्नान करे।

विधि—पानीमें भिगोकर मोटे तौलियेसे पहले एक पैरको खूब रगड़े फिर दूसरे पैरको, फिर दोनों हाथोंको और फिर सारे शरीरको रगड़े।

सूचना—एक बार फिर पेटका साफ होना आवश्यक है। यदि शौच शुद्ध न हो तो भुने हुए हर्रेके चूर्णका सेवन करें।

वे रोग, जिन्हें यन्त्र नहीं देख पाते

आयुर्वेदमें कुछ रोगोंके विस्तृत विवरण मिल जाते हैं, जिन्हें आजके यन्त्र देख नहीं पाते। इन रोगोंमेंसे दो-चार रोगोंका विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) परिणामशूल

इस रोगका 'परिणामशूल' यह नाम इसलिये पड़ा है कि छोटी आँतोंमें भोजनके पाक हो जानेके बाद जब किट्टका भाग बड़ी आँतोंमें पहुँचने लगता है तो उदरभागमें असह्य वेदना उत्पन्न होने लगती है। इसलिये इस वेदना (शूल)-का नाम परिणामशूल है। परिणामका अर्थ होता है पक जाना; क्योंकि भोजनके पक जानेके बाद यह शूल होता है, इसलिये इसका परिणामशूल नाम सार्थक है।

एक रोगिणी, जिसकी अवस्था ३०-३२ वर्षकी होगी, इस रोगसे पाँच वर्ष पीडित रही। तीन बजे दिनको उसके उदरमें वेदना प्रारम्भ होती थी, जो छटपटाहटमें परिणत हो जाती थी। इस छटपटाहटको वेदना-निवारक (पेनकिलर) दवासे कम कर दिया जाता था। प्रत्येक चिकित्सक अपने हाथमें आनेपर इस रोगका सर्वविध यान्त्रिक जाँच करवाते रहे, किंतु जाँचसे कोई रोग स्पष्ट नहीं होता था। ३-४ वर्ष बीत जानेके बाद वेदना-निवारक सभी औषध भी बेअसर हो गये। दर्दके मारे कराहते-कराहते रोगिणी बेहोश होने लगी। प्रत्येक दिन तीन बजे दर्द उठता और रोग बेहोशीमें परिणत हो जाता, फिर तीन-चार घंटेके बाद पीडा कम होने लगती।

लक्षण—रोगके नामसे ही इस रोगका लक्षण स्पष्ट हो जाता है। बात यह है कि बड़ी आँतोंकी दीवारमें मलका किट्टभाग जमकर ठोस परतका रूप ले लेता है। जब भोजन पक जानेके बाद, बड़ी आँतोंमें भोजनका यह निस्सार भाग फिर पहुँचने लगता है, तब पुरस्सरणक क्रियाके द्वारा उत्तरोत्तर पुराने परतनुमा किट्टभागके टकरावसे यह वेदना शुरू होती है और बढ़ती चली जाती है। इस तरह भोजनके ३-४ घंटे बाद होनेवाले दर्दको परिणामशूल कहते हैं।

बड़ी आँतका कुछ हिस्सा लीवर और प्लीहाके बीचमें फेफड़ोंके नीचे, आँतके स्पर्शसे ज्ञात हो जाता है। उक्त रोगिणीके आँतका यह भाग बहुत सूजकर गुठली-सा बाहर दिखने लगा था। उसके इस गाँठको देखकर बहुतोंने इसे हृदयरोग समझ लिया, किंतु यह हृदयरोग नहीं था।

चिकित्सा—चिकित्साकी सफलता यह है कि वह मूलरोगके कारणका निवारण कर दे। कैस्टर ऑयल (एरण्डका तेल) पीनेसे धीरे-धीरे आँतोंमें चिपके मलका किट्टभाग फूलकर बाहर निकलने लगता है। इसलिये मशीनमें जैसे तेलकी जरूरत होती है, उसी तरह इस रोगमें स्नेहन (ऑयलिंग)-की आवश्यकता होती है।

रातको मूँगकी खिचड़ी घीके साथ खाये और सोते समय एकसे चार चम्मचतक शुद्ध कैस्टर ऑयलको थोड़े दूधमें मिलाकर पी लेना चाहिये। उसके बाद मीठा दूध ऊपरसे पी ले। पेट सबका अलग-अलग होता है। इसलिये किसीका आधे चम्मचसे काम चलता है और किसीको चार चम्मच लेना पड़ता है। रोगीको ध्यान देना पड़ेगा कि कितने चम्मच कैस्टर ऑयलसे उसका एक बारमें पेट साफ हो जाता है। एक बार पेट साफ अवश्य होना चाहिये। कैस्टर ऑयल पीनेसे पहले १० ग्राम ईसबगोलकी भूसी लेना आवश्यक है।

इसमें दूसरी सावधानी यह बरतनी पड़ती है कि पेट दो घंटेके बाद खाली न रहे। अर्थात् हर दो-ढाई घंटेपर ५० ग्राम दूधमें एक चम्मच घरका बना चनेका सत्तू मिलाकर पी लिया जाय। जो लोग बिस्कुट खाते हों, वे सत्तूकी जगहपर प्रत्येक दो घंटेके बाद आरारोटका बिस्कुट खाकर दूध या पानी पी सकते हैं।

औषध—(क) (१) शूलवज्रिणीवटी-४ ग्राम, (२) प्रवालपञ्चामृत-३ ग्राम, (३) कृमिमुद्गर-३ ग्राम, (४) महाशंखवटी-२ ग्राम, (५) सीतोपलादि-२५ ग्राम, (६) टंकणभस्म-३ ग्राम, (७) महाशङ्खभस्म-३ ग्राम और (८) कपर्दक भस्म-३ ग्राम।

इन सबकी २१ पुड़िया बना लें। सुबह-शाम एक-एक पुड़िया शहदसे लेकर ऊपरसे एक छटाक दूध पी लें।

(ख) इस रोगमें पेट खाली नहीं रहना चाहिये। इसलिये २५० ग्राम दूधको चार भाग करके एक भागको घरके बने चनेके सत्तूके साथ लेते रहें। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है।

(ग) रातको मूँगकी खिचड़ी खाकर सोते समय १० ग्राम ईसबगोलकी भूसी लेकर कैस्टर ऑयल ले लें। खिचड़ीमें घी मिला लें। रोटी भी ली जा सकती है। किंतु खिचड़ी ज्यादा हितकर है। सोते समय एक-से-चार चम्मच कैस्टर ऑयल थोड़े-से दूधमें मिलाकर ले लें। बादमें मीठा दूध पी लें। तीन दिनके बाद इस तकलीफसे मुक्ति मिल जायगी। धीरे-धीरे एक किलोसे कम कैस्टर ऑयल नहीं पीना चाहिये। डेढ़ किलोतक पीना ज्यादा हितकर है।

विशेष—हिंग्वष्टक चूर्ण ३-३ ग्राम भोजनके पहले कौरमें सानकर खा लें।

पेटमें दर्द हो तब अग्नितुंडीवटी-२ गोली तोड़कर निगल जायँ और हिंग्वष्टक चूर्ण-५ ग्राम गरम पानीसे ले लें।

(२) सूर्यावर्त (Migraine)

आवर्तका अर्थ होता है चारों ओर चक्कर लगाना। इस प्रकार सूर्यावर्तका अभिप्राय यह होता है कि सूर्यका उदित होकर पृथ्वीका चक्कर लगाकर फिर उसका पूर्व दिशामें लौट आना। सूर्यके इस आवर्तनसे जो रोग उत्पन्न होता है, उसे भी लक्षणासे सूर्यावर्त ही कहा जाता है। इस तरह सूर्यावर्त शब्दसे रोगका पूरा परिचय मिल जाता है।

पूर्व दिशामें सूर्यका यह उदय भारतसे दो-तीन घंटा पहले ही हो जाता है। भारतसे एक घंटा पहले जापानमें सूर्योदय होता है और जापानसे एक घंटा पहले प्रशान्तमहासागरमें। इस तरह सूर्यका दर्शन भारतमें दो घंटे बाद ही होता है। सूर्यके इस आवर्तन (उदय)-के साथ ही सूर्यावर्तका रोग भारतवासी रोगियोंको होने लगता है; क्योंकि सूर्य अग्निका पिण्ड है और अग्नि ही शरीरमें पित्तरूपसे प्रतिष्ठित है। अत: सूर्यसे पित्तका गहरा सम्बन्ध है। प्रशान्तमहासागरमें जब सूर्यका आवर्तन हो जाता है तब रोगीके शरीरमें स्थित पित्त भी प्रभावित होने लगता है। यह पित्त रोगीके ललाट आदिमें स्थित कफको धीरे-धीरे सुखाने लगता है। जैसे-जैसे कफ सूखता जाता है, वैसे-वैसे रोगीका सिरदर्द (शिरोवेदना) बढ़ता जाता है। दोपहरमें २ बजेके बाद यह वेदना कम होती जाती है; क्योंकि पित्तका वेग भी कम होने लग जाता है और रोगी फिर सिरमें केवल भारीपन महसूस करता है। उसकी बेचैनी हट जाती है। जीर्ण होनेपर यह रोग ललाटमें परतकी तरह जम जाता है और उसको तेज यन्त्रसे खरोंचकर निकाला जा सकता है।

इस तरह यह रोग बहुत ही कष्टप्रद है। किंतु जितना यह कष्टप्रद है, उतनी ही आयुर्वेदने इसकी चिकित्सा सरल बना दी है। क्योंकि आयुर्वेदने इसके कारणका पता लगा लिया है और उस कारणके उत्पन्न होनेसे पहले ही दवाका सेवन करा देता है। इसलिये एक-दो दिनमें ही इस रोगसे मुक्ति मिल जाती है। औषध कुछ दिन चलाते रहना चाहिये।

औषध—आयुर्वेद कारणका पता लगाकर, उस कारणको प्रभावहीन करनेके लिये प्रशान्तमहासागरमें सूर्योदय होनेसे पहले ही अर्थात् भारतमें सूर्योदय होनेसे लगभग २-३ घंटे पहले ही औषधका सेवन करा देता है। विधि यह है—

एक छटाक जलेबीको रातको ही दूधमें भिगोकर सुरक्षित रख दें। लगभग तीन बजे गोदन्ती भस्म-१ ग्राम एवं शोधित नरसारचूर्ण-आधा ग्राम फाँककर इस दूध-जलेबीको खाकर भरपेट पानी पी लेना चाहिये। औषधके इस सेवनसे, सूर्यावर्तनसे जो पित्त प्रकुपित होता था, वह नहीं हो पायेगा और कफ पिघलकर तीन-चार दिनोंमें नाकसे निकल जायगा। कभी-कभी खून भी निकलता है, उसे देखकर रोगी घबराये नहीं; क्योंकि वह दूषित अवरुद्ध खून है, इसका निकलना ही श्रेयस्कर है। कम-से-कम ४१ दिनतक यह औषध चलाना चाहिये। ४१ दिनके बाद कुछ दिनोंतक आधा किलो पानी, चीनी मिलाकर हलका-हलका गरम, पीते रहना चाहिये। इस विधिसे यह रोग ४-५ दिनोंके बाद ही प्रभावहीन तो हो जाता है, किंतु लेयर (परत)-की तरह ललाटमें चिपके

हुए कफको निकालनेके लिये आवश्यकतानुसार २१ या ४१ दिनोंतक दूध-जलेबीका सेवन करना चाहिये। रोगीको फिर कभी यदि जुकाम हो जाय तो रातको तीन बजे पानीमें चीनी डालकर भरपेट पी लेना चाहिये, ताकि वह पित्त फिर जाग न जाय।

यदि षड्‌विन्दु तेलको नाकमें छः-छः बूँद डालें तब इस रोगसे जीवन-भरके लिये छुटकारा मिल जाता है। यह तेल इतना उत्तम है कि नाकमें डालने और सिरमें लगानेसे कंठके ऊपरके सम्पूर्ण रोग समाप्त हो जाते हैं। स्वस्थ व्यक्ति भी इसलिये इस तेलका सेवन कर सकता है। कान, आँख, नाकके एवं सिरके बाल गिरना तथा सफेद होना आदि उपद्रवोंसे यह बचाकर रखता है। साइनसके रोगियोंको ४ वर्षोंतक नाकमें इसको अवश्य डालते रहना चाहिये। यह साइनसरोग भी आज असाध्य ही है। शल्यकर्मके बाद भी नहीं जाता। बार-बार शल्यकर्म कबतक कोई करायेगा?

(३) वातगुल्म

प्रकृति हमारी माता है। हमारे स्वास्थ्यके विरोधी कोई तत्त्व अगर हमारे शरीरमें पनपने लगते हैं तो प्रकृति माता उनको दूर करनेके लिये भरसक प्रयत्न करती है। आँव भी एक ऐसा रोग है, जो शरीरमें सेन्द्रिय विष तैयार करता है। इसलिये प्रकृति माता उस विषको निकालनेके लिये बार-बार शौचकी संख्या बढ़ा देती है। किसी भी चिकित्सकका प्रकृतिके इस कार्यमें सहयोग करना ही कर्तव्य है, उसके विरुद्ध जाना नहीं। जब आँवके दस्त लगते हैं तब रोगीको एक तो बार-बार शौच जाना पड़ता है और उसको मरोड़ भी बहुत होता है। वह चाहता है कि इन दोनों कष्टोंसे बचे और चिकित्सकके पास दौड़ता है। इस स्थितिमें आयुर्वेद रोगीके कष्टकी निवृत्तिके लिये बेलके मुरब्बे आदिका सेवन कराता है और परहेज कराता है। औषधकी योजना ऐसी बताता है कि प्रकृतिके कार्यमें कोई बाधा न पड़े और रोगीका कष्ट दूर हो जाय। किंतु आजकल कुछ ऐसी औषधियाँ निकल गयी हैं, जिनके खिला देनेके बाद रोगीको तत्काल कष्टसे छुटकारा हो जाता है और वह समझता है कि हम शीघ्र ही अच्छे हो गये। शायद चिकित्सक भी समझता होगा कि हमने रोगीको ठीक कर दिया। किंतु होता है उलटा। प्रकृति जिस विषको आँवके माध्यमसे निकालना चाहती थी, वह आँव पेटमें ही रह गया। तब वह दो रूपोंमें परिणत हो जाता है। एक तो वह आँव आँतोंकी दीवारमें चिपककर परतकी तरह बन जाता है। दूसरे उसी आँवके ऊपर कुछ मांस भी चारों तरफसे बढ़ने लगती है, जो कई किलो भारतक हो जाता है। किंतु इसे किसी यन्त्रसे नहीं देखा जा सकता।

इसीका नाम वातगुल्म है। आयुर्वेदके अनुसार गुल्म दो प्रकारके होते हैं—(१) वातगुल्म और (२) रक्तगुल्म।

रक्तगुल्म तो गर्भाशयका रोग है और वातगुल्म पेटका रोग है। इसे देखनेके दो उपाय हैं—

(१) रोगीको चित लिटाकर उसके दोनों पैरोंको मोड़कर उसकी नाभिके चारों ओर अँगुलियोंसे टटोला जाय और उसकी सीमा देख ली जाय। हाथका स्पर्श बता देता है कि पेटमें एक गाँठ है और वह कितनी बड़ी है।

(२) दूसरा उपाय यह है कि पेट खोलकर देखे तो आँखें साफ देख लेती हैं कि पेटमें बहुत बड़ी गाँठ है। एक रोगीका पेट खोला गया, उसके पेटमें गुल्मकी पाँच गाँठें थीं। सबका ऑपरेशन एक साथ सम्भव न था, इसलिये वह सी दिया गया। प्राय: एक ही ऑपरेशनमें मृत्यु हो जाती है, बहुत सावधानी बरतनेपर कई ऑपरेशन सम्भव हैं।

औषध—[१] महाशंखवटी-२ ग्राम, कृमिमुद्गररस-३ ग्राम, प्रवालपञ्चामृत-३ ग्राम, कामदुघारस-४ ग्राम, साधारण सूतशेखररस-३ ग्राम, अम्बर-१/६ ग्राम, सिद्धमकरध्वज-१ ग्राम, सितोपलादि-२५ ग्राम—इन औषधोंकी २१ पुड़िया बनायें। सुबह-शाम एक-एक पुड़िया खाली पेट शहदके साथ लें।

[२] कुबेराक्षादिवटी-दो गोली, लहसुनादिवटी-दो गोली—चारों गोलियाँ निगलकर मीठा कुमार्यासव चार ढक्कन पानी मिलाकर पी लें। इसे भोजनके आधे घंटे बाद दोनों समय लें।

यदि लहसुनका परहेज हो तो लहसुनादिवटीके स्थानपर कपीलुहिंग्वादिवटी १ या २ गोली लें।

[३] रातको सोते समय १० ग्राम ईसबगोलकी

भूसीके साथ त्रिफलाचूर्ण पानी या दूधसे लें। दूधमें चीनी मिलायी जा सकती है। पेटको साफ रखना आवश्यक है। ईसबगोलकी भूसी परतकी तरह आँतोंमें चिपके आँवको फुलाता है और त्रिफला उसे निकालता है। इसलिये औषधसेवन करनेपर यदि शौचमें चिकनाहट मालूम पड़े तो रोगी घबराये नहीं, वह समझे कि आँव निकल रहा है।

इस रोगमें प्राय: अम्लपित्त भी हो जाता है, ऐसी स्थितिमें अविपत्तिकरचूर्ण ५-५ ग्राम भोजनसे १० मिनट पहले पानीसे ले लें। एक महीनेके लिये हर खट्टे फलका सेवन निषिद्ध है। इस अवसरपर मलायी निकाले हुए पावभर दूधको फ्रिजमें रख दें। यदि फ्रिज न हो तो मिट्टीके बरतनमें पानी डाल दें, उसीमें दूधके बरतनको रख दें ताकि वह ठंडा बना रहे। प्रत्येक दो घंटेपर पचास ग्राम दूध घरके चनेके सत्तूके साथ लेते रहें।

इस रोगमें परहेज बहुत जरूरी है।

(४) गर्भाशयके ट्यूबोंका जाम होना

गर्भाशयमें दो ट्यूब होते हैं। संतानके लिये इन ट्यूबोंका अत्यधिक महत्त्व है। यदि दोनों ट्यूब जाम हो जायँ तो संतान हो नहीं सकती।

ऐसी स्थितिमें निम्नलिखित औषधका सेवन लाभप्रद प्रमाणित हुआ है। पहले ट्यूबोंकी जाँच करा लें। फिर छ: महीने बाद सफलता मिल जाती है।

औषध—[१] रसराजरस-२ ग्राम, गुल्मकुठाररस-२ ग्राम, टंकणभस्म-२ ग्राम, काले तिलका चूर्ण-३० ग्राम, पुनर्नवामण्डूर-३ ग्राम—इन औषधियोंकी २१ पुड़िया बना लें। सुबह-शाम एक-एक पुड़िया शहदसे लें या पचास ग्राम चीनी मिले दूधसे लें।

[२] ४०० मिलीग्राम मीठे कुमार्यासवमें १४ मिलीग्राम शंखद्राव मिला लें। भोजनके आधे घंटेके बाद बोतलको अच्छी तरह हिलाकर ४ ढक्कन दवा ६ ढक्कन पानी मिलाकर पी लें। पेट साफ करनेके लिये हर्रे आदि लें। (ला०बि०मि०)

~~~

आयुर्वेदका प्रयोजन

(आचार्य श्रीप्रियव्रतजी शर्मा, भू०पू० निदेशक एवं डीन चिकित्सा-विज्ञान-संकाय, का०हि०वि० विद्यालय)

‘**प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च**’ (च०सू० ३०। २६)— आचार्य चरकके इस वचनके अनुसार आयुर्वेदका प्रयोजन है—स्वस्थ पुरुषके स्वास्थ्यकी रक्षा करना तथा रोगी पुरुषके विकारका शमन करना। पूर्वकालमें आयुर्वेदका अवतरण इसी उद्देश्यसे हुआ।

जो ‘स्व’ में रहे वह ‘स्वस्थ’ कहलाता है। प्रत्येक व्यक्तिका प्रतिनियत स्वभाव होता है, जिसके अनुसार उसका ‘स्वधर्म’ और ‘स्वकर्म’ संचालित होता है। संक्षेपमें इसे प्रकृति कह सकते हैं। इस प्रकार अपनी प्रकृतिमें स्थित रहनेवाला स्वस्थ तथा प्राकृत भाव स्वास्थ्य है। इसके विपरीत वैकृत भाव रोग है। ‘साम्य’ और ‘वैषम्य’से इन्हीं अवस्थाओंका अभिधान किया गया है। सुश्रुतके अनुसार स्वस्थका लक्षण इस प्रकार है—जिसके दोष, धातु, मल तथा अग्नि सम (प्राकृत स्थितिमें) हों तथा आत्मा, इन्द्रिय और मन प्रसन्न हों। प्रसन्नतासे ही दोष आदिके साम्यका अनुमान होता है। अत: प्रसन्नता (प्रसाद) इसका मुख्य लक्षण है—‘**प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते।**’ इस स्थितिकी रक्षा अर्थात् सर्वतोभावेन इसे बनाये रखना, बिगड़ने न देना, आयुर्वेदका प्रथम एवं प्रमुख प्रयोजन है। अतएव चरकने इसका उल्लेख प्रथमत: किया है। ‘**प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्**’ इस न्यायसे भी यही समीचीन है।

इसके लिये आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें दिनचर्या, ऋतुचर्या और सद्वृत्तका विधान किया गया है। दिनचर्यामें दन्तधावन, स्नान आदि शौचकर्म, व्यायाम, आहार और विश्राम उल्लेखनीय हैं। स्नान आदिसे शारीरिक शुद्धि तथा पूजा और ध्यान आदिसे चित्तकी शुद्धि होती है। प्राणायामसे दोनोंका शोधन होता है। इसका पालन न करनेसे अनेक शारीरिक तथा मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। स्नानमें शीत या उष्ण जलके उपयोगमें प्रकृति, देश, काल आदिका विचार करना चाहिये। व्यायामसे शरीर बलवान् होता है और उसमें स्फूर्ति आती है। व्यायाम न करनेसे स्थौल्य, प्रमेह आदि रोग होते हैं। अति व्यायाम करना भी रोगका
~~~

कारण है। आहार शरीरके पोषणके लिये आवश्यक है। इसका ग्रहण प्रकृति तथा अग्निबलके अनुसार मात्रापूर्वक करना श्रेयस्कर है। रात्रिमें निद्रासे शरीर और मनको विश्राम मिलता है। स्त्रीसंयोगका संयमित सेवन हितकर है। आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य—ये तीन शरीरके उपस्तम्भ (धारण करनेवाले) कहे गये हैं—**'त्रय उपस्तम्भा इति—आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति'** (च० सू० ११। ३५)।

उपर्युक्त विधान वैयक्तिक स्वस्थवृत्त है, जब कि सद्वृत्त (शिष्टाचार) वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों स्तरोंपर स्वास्थ्यकी रक्षा करता है। पुरुषके लिये केवल वैयक्तिक स्वास्थ्य ही अपेक्षित नहीं है, अपितु सामाजिक स्वास्थ्य भी अभीष्ट है। इन्हीं दोनोंको दृष्टिमें रखकर चरकने हित-अहित आयु तथा सुख-दुःख आयुका प्रतिपादन किया है। हित-अहित सामाजिक स्वास्थ्य तथा सुख-दुःख वैयक्तिक स्वास्थ्यका निष्कर्ष है।

स्वास्थ्यरक्षामें रसायन और वाजीकरणका भी महत्त्व है। रसायनसे सभी धातु पुष्ट होते हैं, जिससे ओज दृढ़ होता है, जो रोगक्षमताका मूल है। जब कि वाजीकरण शुक्रको प्रशस्त बनाता है, जिससे संतान गुणसम्पन्न होती है। रसायन तारुण्यको बचाये रखता है, अतः इसे 'वयःस्थापन' भी कहते हैं। सामान्यतः लोग रसायनसे ओषधियोंका ग्रहण करते हैं, किंतु आहारमें ग्राह्य द्रव्य भी नित्य-रसायन हैं। काम्य-रसायनके रूपमें विभिन्न ओषधियोंका सेवन विहित है। सुश्रुतने शीतोदक, दुग्ध, घृत और मधुका पृथक्-पृथक् या मिश्रित कर 'वयःस्थापन' के रूपमें विधान किया है (सु०चि० ३७। ६)। इनका प्रयोग प्रकृतिके अनुसार करना चाहिये। इन द्रव्योंके साथ-साथ आचारका पालन भी मानसिक शान्तिके लिये आवश्यक है। यह 'आचार-रसायन' कहलाता है, बिना इसके रसायनका फल नहीं मिलता—

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्।
अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम्॥
जपशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्।
देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम्॥
आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं करुणवेदिनम्।
समजागरणस्वप्नं नित्यं क्षीरघृताशिनम्॥
देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहंकृतम्।
शस्ताचारमसंकीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्॥
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम्।
धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नरं नित्यरसायनम्॥

(च०चि० १। ४। ३०—३४)

अर्थात् सत्य बोलनेवाले, क्रोध न करनेवाले, मद्य-सेवन और मैथुनसे दूर रहनेवाले, हिंसा न करनेवाले, श्रम न करनेवाले तथा शान्त, प्रियवादी, जप और पवित्रतामें तत्पर, धीर, सदा दान देनेवाले, तपस्वी, देवता, गौ, ब्राह्मण, आचार्य, गुरु एवं वृद्धजनोंकी पूजा करनेमें तत्पर, क्रूरतासे दूर रहनेवाले, सर्वदा दयासे पूर्ण, उचित समयसे निद्रा त्यागने और शयन करनेवाले, सदा दूध और घृतका सेवन करनेवाले, देश, काल तथा मात्राको जाननेवाले, युक्तिको जाननेवाले, अहंकार न करनेवाले, उत्तम आचार-विचारवाले, संकीर्ण विचारसे शून्य, अध्यात्मविषयोंमें अपनी इन्द्रियोंको लगानेवाले, आस्तिक, जितात्मा, वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करनेवाले तथा धर्मशास्त्रको पढ़नेवाले मनुष्य सदा रसायनयुक्त होते हैं।

इस प्रकार आहार, आचार और विहारका संतुलित प्रयोग स्वास्थ्य-रक्षाके लिये आवश्यक है। यदि कदाचित् मिथ्या आहार-विहारके कारण रोग उत्पन्न हो जायँ तो उनका शमन करके पुरुषको प्राकृत भावमें स्थापित करना आयुर्वेदका द्वितीय प्रयोजन है। इसी कारण चिकित्साको 'प्रकृतिस्थापन' कहा गया है। इसके लिये औषध, आहार (पथ्य) और विहारकी त्रिपुटीका समन्वित प्रयोग किया जाता है। चिकित्सामें दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सत्त्वावजय—इन तीनों उपायोंका प्रयोग विहित है, जिससे दोषोंका सर्वाङ्गीण शोधन और शमन हो सके। प्रथम दोषोंका संशोधन कर फिर संशमनका विधान है। संशोधनमें पञ्चकर्म महत्त्वपूर्ण है।

उपसंहार—इस प्रकार आयुर्वेदका प्रयोजन पुरुषको सर्वथा समर्थ रखना और बनाना है, जिससे वह पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष)-की प्राप्ति कर सके। इसी कारण आरोग्यको इनका मूल कहा गया है। अतः आरोग्यप्रदाता आयुर्वेद सर्वविध सेवनीय है—**'आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः॥'** (अष्टाङ्गहृदय सू० १। २)

आयुर्वेद शब्दका अर्थ, परिभाषा एवं प्रयोजन

(डॉ० श्रीसीतारामजी जायसवाल, फिजीसियन एण्ड सर्जन)

आयुर्हिताहितं व्याधिर्निदानं शमनं तथा।
विद्यते यत्र विद्वद्भिः स आयुर्वेद उच्यते॥

जिस शास्त्रके द्वारा आयु (सुखी आयु तथा दुःखी आयु, हितकर आयु तथा अहितकर आयु)-का, हित (लाभदायक) एवं अहित (हानिकारक) आहार-विहार (स्वस्थवृत्त)-का, व्याधि (रोग)-निदान तथा शमन (चिकित्सा)-का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उस (शास्त्र)-का नाम 'आयुर्वेद' है।

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥

(च०सू० १।४१)

अर्थात् जिस शास्त्रमें हितकर आयु तथा अहितकर आयु, सुखी आयु एवं दुःखी आयुका वर्णन हो तथा आयुके लिये हित एवं अहित आहार-विहार एवं औषधका वर्णन हो और आयुका मान बतलाया गया हो तथा आयुका वर्णन हो वह 'आयुर्वेद' कहलाता है। जितने समयपर्यन्त शरीर एवं आत्माका संयोग रहता है, उतने समयका नाम 'आयु' है। इसी समयमें प्राणी धर्मादिकी सिद्धि कर सकता है।

मानव आयुर्वेदशास्त्रद्वारा आयुके विषयमें ज्ञान प्राप्त करता है, अतः इसका नाम 'आयुर्वेद' है—

'आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वाऽऽयुर्विन्दन्ति इत्यायुर्वेदः।'

(सु० सू० १।१५)

शरीर एवं जीवका योग 'जीवन' कहलाता है, उससे युक्त कालका नाम 'आयु' है। आयुर्वेदद्वारा व्यक्ति आयुके विषयमें हित-अहित द्रव्य तथा गुण एवं कर्मको जानकर और उनका सेवन तथा परित्याग करके आरोग्ययुक्त—स्वास्थ्यलाभपूर्वक आयुको प्राप्त करता है और दूसरोंकी आयुका भी ज्ञान प्राप्त करता है।

आयुर्वेदका प्रयोजन

'व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः, स्वस्थस्य रक्षणं च।' (सु०सू० १।१४) इसके द्वारा रोगियोंको रोगसे मुक्ति मिलती है और स्वस्थ व्यक्तियोंके स्वास्थ्यकी रक्षा होती है।

आचार्य चरकका उद्घोष है—**'प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च'** (सूत्र० ३०।२६)। अर्थात् आयुर्वेदशास्त्रका प्रयोजन है—स्वस्थ पुरुषके स्वास्थ्यकी रक्षा करना और रोगी व्यक्तिके रोगको दूर करना।

धर्म, अर्थ एवं सुखादिका साधन आयु है। अतः आयुकी कामना करनेवालोंको आयुर्वेदके उपदेशोंमें परम आदर करना चाहिये।

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः॥

(अष्टाङ्गहृदय सू० १।२)

आयुर्वेदके उपदेशों (विधि एवं निषेधों)-का आदर (पालन) करनेसे आयुका लाभ होता है और उससे धर्म आदिकी सिद्धि होती है।

आयुर्वेद—संक्षिप्त परिचय

(डॉ० श्रीप्रदीपकुमारजी सचान, प्रवक्ता, रा० आयु० का० झाँसी)

इतिहास—आयुर्वेदके इतिहासका अवलोकन करनेसे ज्ञात होता है कि इसके ग्रंथोंमें आयुर्वेदकी उत्पत्तिको ब्रह्माद्वारा सृष्टि-उत्पत्तिके पूर्व माना गया है। ब्रह्माद्वारा प्रणीत ब्रह्मसंहिता, जिसमें दस लाख श्लोक एवं एक हजार अध्याय थे, आज उपलब्ध नहीं है। देवलोकसे मर्त्यलोकमें आयुर्वेदको अवतरित करनेका श्रेय महर्षि भरद्वाजको है। वेदोंको प्राचीनतम वाङ्मय माना जाता है। ये समस्त ज्ञानके आदि स्रोत कहे जाते हैं, जिससे आयुर्वेदके आद्य स्रोत भी ये ही हैं। आयुर्वेदकी विषयवस्तु चतुर्विध वेदोंमें प्राप्त होती है, परंतु सर्वाधिक साम्यता अथर्ववेदसे होनेके कारण आचार्य सुश्रुतने आयुर्वेदको अथर्ववेदका उपाङ्ग (सु०सू० १।६) एवं वाग्भटने अथर्ववेदका उपवेद (अ०हृ०सू० ८।९) कहा है। आचार्य चरकने भी इसकी सर्वाधिक घनिष्ठता अथर्ववेदसे बतायी है एवं इसे पुण्यतम वेद कहा है (च०सू० १।४३)। ऋग्वेद प्राचीनतम होनेके कारण प्राचीनताकी दृष्टिसे चरणव्यूहमें आयुर्वेदको ऋग्वेदका उपवेद कहा गया है। महाभारत (सभापर्व ११।३३ पर नीलकण्ठकी व्याख्या)-में भी आयुर्वेदको ऋग्वेदका उपवेद कहा गया है। काश्यपसंहिता (आयुर्वेदका बालरोगसे सम्बन्धित ग्रंथ)

एवं ब्रह्मवैवर्तपुराणमें आयुर्वेदको पञ्चम वेद कहा गया है। आयुर्वेद शब्द नामतः वैदिक साहित्यमें कहींपर भी परिलक्षित नहीं होता है। आयुर्वेदोत्तर ग्रंथोंमें सर्वप्रथम इसका नाम पाणिनिकृत अष्टाध्यायी (क्रतूक्थादि- सूत्रान्ताट्ठक् ४।२।६०) आदिमें प्राप्त होता है।

चरकसंहिता एवं सुश्रुतसंहिता आद्य संहिताएँ हैं, जो कि पूर्णतः उपलब्ध हैं। अन्य काश्यपसंहिता, हारीतसंहिता आदि खण्डित अवस्थामें हैं। बादकी संहिताएँ अष्टाङ्गसंग्रह, अष्टाङ्गहृदय, माधवनिदान आदि चरक एवं सुश्रुतसंहिताको आधार मानकर सृजित की गयीं।

आयुर्वेदीय संहिताओंमें निम्नानुसार अवतरण-सम्बन्धी परम्परा प्राप्त होती है—

आयुर्वेदावतरण
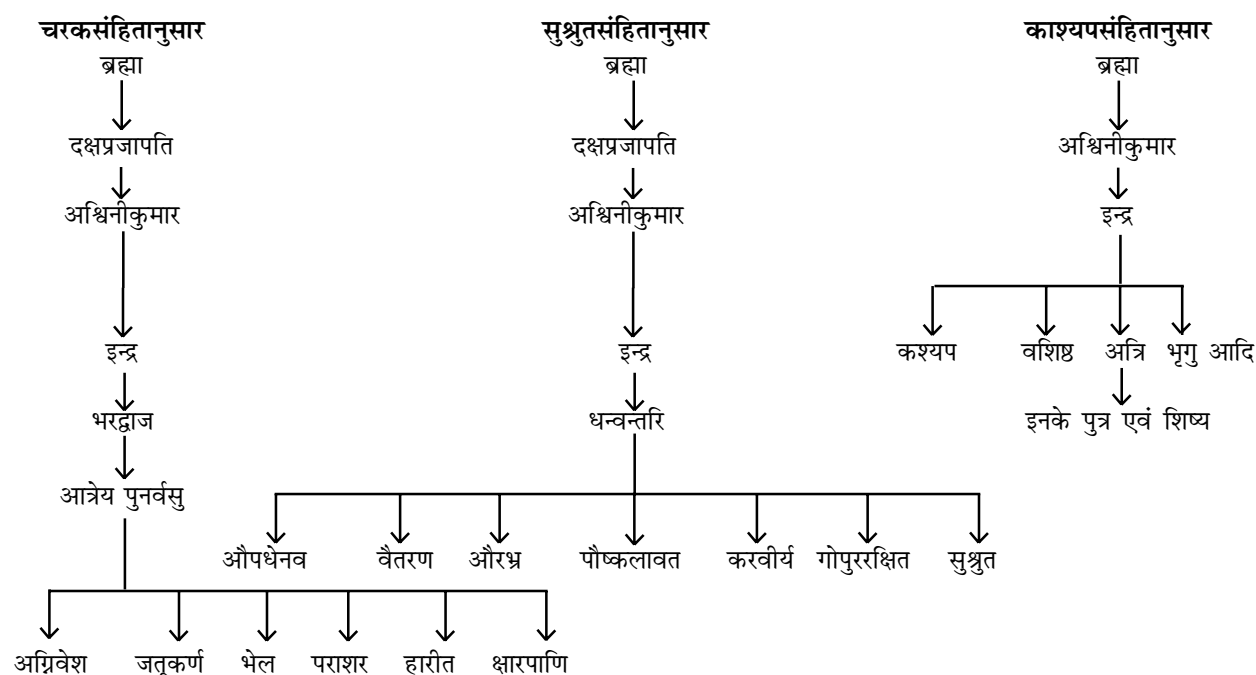
संहितोक्त आयुर्वेद 'अष्टाङ्ग-आयुर्वेद' कहा गया है; क्योंकि इसके आठ अङ्ग हैं, यथा—

(१) शल्य (Surgery), (२) शालाक्य (Ophthalmology, Otology, Rhinology, Dentistry, Oropharyngology etc.), (३) कायचिकित्सा (Medicine), (४) अगदतंत्र (Toxicology, Medical Jurisprudence), (५) भूतविद्या (Psychiatry, Microbiology), (६) कौमारभृत्य (Paediatrics), (७) रसायन (Science of Rejuvenation, Immunology) एवं (८) वाजीकरण (Science of Aphrodisiac)।

इस अष्टाङ्ग-आयुर्वेदके जनक काशिराज दिवोदास धन्वन्तरिको माना जाता है। प्रारम्भिक आयुर्वेद मुख्यतः काष्ठौषधियोंपर निर्भर था, परंतु कालान्तरमें इसमें धातुओंका भी भस्मादिके रूपमें प्रयोग होने लगा। इस हेतु रसशास्त्र नामक शाखाका उदय हुआ।

आयुर्वेद शब्दका अर्थ—आयुर्वेद शब्द आयु एवं वेद—इन दो शब्दोंके मेलसे बना है। आयुका अर्थ इस प्रकार है—

(१) 'ऐति गच्छति इति आयुः' अर्थात् जो निरन्तर गतिमान् रहती है, उसे आयु कहते हैं।

(२) 'आयुर्जीवितकालः' (अमरकोष २।८।१२०) जीवितकालको आयु कहते हैं।

(३) 'चैतन्यानुवर्तनमायुः' (च०सू० ३०।२२) अर्थात् जन्मसे लेकर चेतनाके बने रहनेतकके कालको आयु कहते हैं।

(४) 'शरीरजीवयोर्योगो जीवनम्, तेनावच्छिन्नः काल

आयुः' अर्थात् शरीर एवं जीवके संयोगको जीवन कहते हैं तथा जीवनसे संयुक्त कालको आयु कहते हैं।

(५) शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते॥

(च० सू० १।४२)

अर्थात् शरीर (Physical Body), इन्द्रिय (Senses), सत्त्व (Psyche) एवं आत्मा (Soul)-के संयोगको आयु कहते हैं। धारि, जीवित, नित्यग तथा अनुबन्ध—ये आयुके पर्याय हैं।

यह आयु चतुर्विध कही गयी है—**(१) सुखायु—**शारीरिक एवं मानसिक रोगोंसे सर्वथा मुक्त व्यक्तियोंकी आयु, **(२) दुःखायु—**रोगावस्थाकी आयु, **(३) हितायु—**सर्वप्राणी-हितैषी, सदाचारी, दानी, तपस्वी, आदरणीय पुरुषोंका आदर करनेवाले आदि लक्षणोंसे युक्त व्यक्तिकी आयु। **(४) अहितायु—**हितायुके विपरीत लक्षणोंवाले व्यक्तिकी आयु।

वेदसे तात्पर्य है ज्ञान (Knowledge)। अतः आयुर्वेदका सामान्य अर्थ हुआ—जीवनका विज्ञान (Science of life) संक्षेपमें—

'आयुषो वेदः आयुर्वेदः' या **'आयुर्वेदयत्यायुर्वेद'।**

अर्थात् आयुर्वेद वह शास्त्र है, जिसमें आयुसे सम्बन्धित सर्वाङ्गीण ज्ञानका वर्णन किया गया हो। दूसरे शब्दोंमें महर्षि चरकने आयुर्वेदकी परिभाषा निम्नवत् दी है—

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥

(च०सू० १।४१)

अर्थात् आयुर्वेद वह शास्त्र है, जिसमें हितायु, अहितायु, दुःखायु एवं सुखायु—इन चतुर्विध आयुओंके लिये क्या हित है, क्या अहित है, आयुका मान क्या है एवं इसका स्वरूप क्या है, आदिका वर्णन किया गया हो।

आयुर्वेदका प्रयोजन—आरोग्यावस्था बनाये रखना ही आयुर्वेदका लक्ष्य है। इस हेतु इसके दो प्रयोजन बताये गये हैं—

प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च। (च०सू० ३०। २६)

(१) स्वस्थ व्यक्तिके स्वास्थ्यकी रक्षा करना।

(२) रोगीके रोगोंका शमन करना।

स्वस्थ व्यक्तिकी परिभाषा आचार्य सुश्रुतने निम्न प्रकारसे दी है—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

(सु०सू० १५।४१)

अर्थात् स्वस्थ व्यक्ति वह है, जिसमें वातादि दोष, त्रयोदश अग्नियाँ (७ धात्वग्नियाँ+५ महाभूताग्नियाँ+१ जठराग्नि), सप्तधातुएँ सम अवस्थामें हों, मल-मूत्रका विसर्जन निर्बाध-रूपसे हो रहा हो, आत्मा, इन्द्रिय एवं मन प्रसन्न हो।

दूसरे शब्दोंमें शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिसे व्यक्तिको स्वस्थ होना चाहिये।

रोग-आरोग्य—परिभाषा एवं कारण—आयुर्वेदमें दोषों (शारीरिक वात, पित्त एवं कफ तथा मानसिक रज एवं तम)-की साम्यावस्थाको आरोग्य एवं विषमावस्थाको रोग कहा गया है। यथा—

'रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।'

(अ०हृ०सू० १।२०)

दोष-वैषम्यके आयुर्वेदमें त्रिविध कारण बताये गये हैं—असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध एवं परिणाम। इन त्रिविध कारणोंसे, दोषवैषम्य हो जानेसे रोगकी उत्पत्ति होती है। आयुर्वेदमें केवल पाञ्चभौतिक शरीरके रोगोंको ही रोग नहीं कहा जाता, अपितु शरीर, इन्द्रिय, मन एवं आत्माको होनेवाले दुःखोंको भी रोग कहते हैं।

'तद्दुःखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते'

(सु०सू० १।२३)

'सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च।'

(च०सू० ९।४)

असात्म्येन्द्रियार्थ संयोगसे तात्पर्य है, ज्ञानेन्द्रियोंका अपने विषयोंसे अतियोग, हीनयोग एवं मिथ्यायोग। प्रज्ञापराधसे अर्थ है बुद्धि (धी, धृति, स्मृति)-के विभ्रमसे मनसा-वाचा-कर्मणा अहित विहार। परिणामसे तात्पर्य है—ऋतुओंका अतियोग, हीनयोग एवं मिथ्यायोग।

रोगाधिष्ठान एवं व्याधि-भेद—आयुर्वेदमें व्याधिके

अधिष्ठान शरीर एवं मन माने गये हैं। आत्माको निर्विकार कहा गया है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक त्रिविध दुःख (व्याधि) कहे गये हैं।

आयुर्वेदमें क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु आदिको भी रोग कहा गया है। व्याधि एवं चिकित्साका वास्तविक क्षेत्र पाञ्चभौतिक शरीर (मनसहित) एवं आत्माका समुदायरूप चिकित्स्य पुरुष माना गया है।

पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः इति, स एव कर्म पुरुषः चिकित्साधिकृतः। (सु०शा०)

ऐसा इसलिये माना गया क्योंकि आत्मा निर्विकार है, एवं शरीर तथा मन जब आत्मासे रहित होते हैं तो उनमें व्याधि उत्पत्ति नहीं होती है या उनकी चिकित्सा नहीं की जाती है जैसा कि मृत शरीर।

रोग-निदान—त्रिविध कारणों (आयतनों)-से उत्पन्न व्याधियोंकी चिकित्साके पूर्व सर्वप्रथम रोग-निदानको प्रमुखता दी गयी है। यथा—

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्।
ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्॥

(च०सू० २०।२०)

रोग-निदान हेतु रोग-रोगी-परीक्षाका विस्तारसे उल्लेख किया गया है। रोग-परीक्षा-हेतु पञ्चनिदान—(१) निदान (रोग-कारण Actiology), (२) पूर्वरूप (व्याधि-उत्पत्तिपूर्व उत्पन्न लक्षण Prodromal symptoms), (३) रूप (व्याधि-लक्षण Signs symptoms), (४) उपशय (Therapeutic test) एवं (५) सम्प्राप्ति (व्याधि-उत्पत्ति-प्रक्रिया Pathogenesis)-का वर्णन मिलता है। रोगी-परीक्षाके लिये त्रिविध (दर्शन, स्पर्शन एवं प्रश्न), पञ्चविध (पञ्चज्ञानेन्द्रिय-परीक्षा), षड्विध परीक्षा (पञ्चज्ञानेन्द्रिय+प्रश्न) तथा अष्टविध परीक्षा (नाडी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श, दृक्, आकृति)-का उल्लेख क्रमशः चरक, सुश्रुत एवं योगरत्नाकरने किया है। चरकने दशविध परीक्षा—(१) प्रकृति (Constitution), (२) विकृति (Pathology), (३) सार (Tissuequality), (४) संहनन (Compactness of body), (५) प्रमाण (Proportionate Relation of Body parts), (६) सात्म्य (Homologation), (७) सत्त्व (Psyche Nature), (८) आहार-शक्ति (Power of intake of food & Digestion), (९) व्यायाम-शक्ति (Body Power) एवं (१०) वय (Age)-का भी उल्लेख किया है।

चिकित्सा—आयुर्वेदमें स्वस्थ व्यक्तिके स्वास्थ्यकी रक्षा करनेपर विशेष बल दिया गया है। इस हेतु सद्वृत्त, ऋतुचर्या, दिनचर्या आदिका विस्तृत उल्लेख किया गया है।

दोषवैषम्यसे उत्पन्न रोगोंकी निवृत्ति-हेतु चिकित्साका विधान है। श्रेष्ठ चिकित्सा उसीको कहा गया है, जिससे एक रोग शान्त हो जाय, परंतु दूसरे किसी रोगकी उत्पत्ति न हो। यथा—

प्रयोगः शमयेद् व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्।
नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद् यो न कोपयेत्॥

(च०नि० ८।२३)

दोष-वैषम्यको दूरकर दोष-साम्य स्थापित करना ही चिकित्साका उद्देश्य कहा गया है। इसके लिये सामान्य एवं विशेष सिद्धान्त कहा गया है। सामान्य सिद्धान्तद्वारा घटे हुए दोषोंको बढ़ाकर एवं विशेष सिद्धान्तद्वारा बढ़े हुए दोषोंको घटाकर दोष-साम्य स्थापित किया जाता है।

चिकित्साके लिये त्रिविध विधियाँ—दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय तथा सत्त्वावजयका उल्लेख किया गया है। दैवव्यपाश्रयविधिमें तन्त्र, मन्त्र, मणिधारण, मङ्गलकर्मादिद्वारा; युक्तिव्यपाश्रयविधिमें युक्तिपूर्वक औषध-द्रव्योंद्वारा तथा सत्त्वावजय-चिकित्सामें मनको अहित विषयोंसे हटाकर, उसके बलको बढ़ाकर चिकित्सा की जाती है। युक्तिव्यपाश्रय-चिकित्साके अन्तर्गत संशोधन तथा संशमन-चिकित्सा आती है। संशोधन-चिकित्सामें शरीरमें बढ़े हुए दोषोंको बाहर निकाला जाता है। इसके अन्तर्गत पञ्चकर्म—वमन, विरेचन, वस्ति (आस्थापन एवं अनुवासन), रक्तमोक्षण तथा नस्यकर्म आते हैं। संशमन-चिकित्सामें बढ़े हुए दोषोंको शरीरके अंदर ही नष्ट किया जाता है। शस्त्रसाध्य रोगोंके लिये अष्टविध शस्त्रकर्म—(१) छेदन (Excision), (२) भेदन (Incision & Draingee), (३) ऐषण (Probing), (४) वेधन (Puncturing), (५) लेखन (Scrapping),

(६) आहरण (Extraction), (७) विस्रावण (Drainge) एवं (८) सीवन (Suturing)-का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त दो विशिष्ट चिकित्सा-विधियाँ रसायन एवं वाजीकरण कही गयी हैं। रसायनद्वारा आयु, मेधा, बल, व्याधिक्षमत्व उत्पन्न किया जाता है एवं वाजीकरणद्वारा शुक्र तथा व्यवाय-सम्बन्धी दोषोंको दूरकर संतान-प्राप्ति करायी जाती है।

अन्य चिकित्सा-प्रणालियोंके विपरीत आयुर्वेदमें मृत्युको भी व्याधि कहा गया है। साथ ही जीवन-मरणके चक्रसे मुक्तिका वर्णन भी किया गया है।

चरकने उपधाको दु:ख (रोग) और दु:खके आश्रयभूत शरीरकी उत्पत्तिका मूल कहा है। सभी प्रकारकी उपधाओंका त्याग सम्पूर्ण दु:खोंका नाशक माना है। वस्तुत: रजस् एवं तमस् गुणका मन एवं आत्मासे सम्बन्ध रखना ही उपधा है। इस रजस् (राग) और तमस् (द्वेष)-के कारण ही दु:ख और पुनर्जन्म होता है। यदि इनसे निवृत्ति मिल जाय तो सभी दु:ख दूर होकर जीवन-मरणके चक्रसे मुक्ति मिल सकती है, जिसे मोक्ष कहते हैं। आयुर्वेदमें मोक्ष-प्राप्तिके साधनोंका भी उल्लेख किया गया है।

चरकने उपधारहित चिकित्साको नैष्ठिकी चिकित्सा कहा है। दूसरे शब्दोंमें नैष्ठिकी चिकित्साद्वारा रज एवं तम दोषोंपर विजय पाकर दु:खों (रोगों)-से आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव है।

उपसंहार—आयुर्वेद प्राचीनतम एवं दैवीय चिकित्सा-शास्त्र है। इसे अथर्ववेद या ऋग्वेदका उपवेद या पञ्चम वेद अथवा पुण्यतम वेद कहा गया है। यह चिकित्साशास्त्रके साथ-साथ दर्शनशास्त्र भी है। इसमें आयुसे सम्बन्धित समस्त ज्ञान होनेके कारण इसे आयुर्वेद—जीवनका विज्ञान (Science of Life) कहना अधिक युक्तिसंगत है। यह शाश्वत (अनादि एवं अनन्त) विज्ञान है। इसके द्वारा इहलौकिक एवं पारलौकिक दु:खोंकी निवृत्ति सम्भव है। इसके द्वारा समस्त प्राणियोंका कल्याण सम्भव है। अत: इसका आदर करना समस्त व्यक्तियोंका कर्तव्य है—**आयुर्वेदोपदेशेषु विधेय: परमादर:।** (अष्टाङ्गहृदय सू० १।२)

आयुर्वेदकी वेदमूलकता

(डॉ०श्रीज्योतिर्मित्रजी, राष्ट्रिय आचार्य, भू०पू०प्रो० एवं अध्यक्ष चि० विज्ञान सं०, का०हि०वि० विद्यालय)

भारतीय परम्पराके अनुसार वेद ज्ञान-विज्ञानके भण्डार हैं और विश्वमें इनसे प्राचीन कोई साहित्य नहीं है। यह आयुर्वेद-विज्ञान, जो कि अनादिकालसे चलता चला आ रहा है[1] वेदका ही उपवेद[2] या उपाङ्ग है।

चरक एवं सुश्रुतकी संहिताएँ आयुर्वेदके आकरग्रन्थके रूपमें समावृत हैं। यहाँ आयुर्वेदीय संहिताओंमें उपन्यस्त वैदिक विचारोंके स्रोतोंको अन्वेषित कर विद्वज्जगत्के समक्ष प्रस्तुत करनेका प्रयास किया जा रहा है—

मूल स्रोत-अवगाहनसे पूर्व यह आवश्यक है कि हम वैदिक संहिताओंका सामान्य परिचय पा लें। वैदिक वाङ्मयके अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं वेदाङ्ग-साहित्यकी गणना है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद—ये चारों चार संहिताओंके रूपमें उपन्यस्त हैं। वेदचतुष्टयीके रूपमें इनकी गणना है। ये संहिताएँ अनेक शाखाओंसे युक्त होनेके कारण विपुल थीं, पर आज वे सभी उपलब्ध नहीं हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि[3] के

१. (अ) सोऽयमायुर्वेद: शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च। (च० सू० ३०।२७)
(आ) सुश्रुत, सूत्र १।६

२. चरणव्यूह (३६, प्रस्थानभेद ४) एवं महाभारत (सभापर्व ११।३३ पर व्याख्याकार श्रीनीलकण्ठजीके अनुसार) आयुर्वेदको ऋग्वेदका उपवेद मानते हैं। अथर्व-परिशिष्ट (चरणव्यूह ४९)-में 'ब्रह्मवेदस्यायुर्वेदोपवेद:' इस प्रकार कहकर आयुर्वेदकी गणना अथर्ववेदके उपवेद-रूपमें है। चरक (तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। चरक सूत्र ३०।२१) एवं उत्तरकालीन आयुर्वेदके ग्रन्थ (अष्टाङ्गहृदय, सूत्र० ८।९)-में आयुर्वेदको अथर्ववेदका उपाङ्ग माना गया है। काश्यपसंहिता (विमान १, ताड़पत्रपर लिखित पुस्तकके अन्तर्गत ७६ वाँ पत्र) एवं ब्रह्मवैवर्तपुराण (१।१६।९-१०)-में तो आयुर्वेदको एक पञ्चम वेद ही मान लिया गया है।

३. चत्वारो वेदा: साङ्गा: सरहस्या: बहुधा भिन्ना:। एकशतमध्वर्युशाखा:। सहस्रवर्त्मा सामवेद:। एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्। नवधाथर्वणो वेद:।
—महाभाष्य

अनुसार ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी १००, सामवेदकी १००० एवं अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ थीं। अथर्वपरिशिष्टके चरणव्यूहके अनुसार ऋग्वेदकी शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, शांखायन एवं माण्डूकायन—ये पाँच प्रमुख शाखाएँ हैं, जिनमें सम्प्रति एकमात्र 'शाकल शाखा' उपलब्ध एवं प्रचलित है। यजुर्वेद शुक्ल एवं कृष्ण इन दो भागोंमें विभक्त है। शुक्ल यजुर्वेदकी प्रधान शाखाएँ माध्यन्दिन तथा काण्व हैं। काण्वशाखा प्राय: दक्षिणमें तथा माध्यन्दिनशाखा उत्तर भारतमें अधिक प्रचलित है। माध्यन्दिन संहिता ही 'वाजसनेयी संहिता' कहलाती है। चरणव्यूहके अनुसार कृष्ण यजुर्वेदकी ८५ शाखाएँ थीं, जिनमें केवल आज तैत्तिरीय, मैत्रायणीय, कठ एवं कपिष्ठल-कठ—ये चार शाखाएँ उपलब्ध हैं और इसीके अनुसार चरक शाखाके ही अन्तर्गत कठ [प्राच्य] एवं कपिष्ठल-कठका समावेश है। अथर्ववेदकी नामभेदसे पिप्पलाद, तौद, मौद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श तथा चारणवैद्य—ये नौ शाखाएँ हैं। सम्प्रति शौनक शाखाका प्रचार है। अथर्ववेदकी अन्तिम शाखा चारणवैद्य आयुर्वेदसे अधिक सम्बद्ध है, पर यह उपलब्ध नहीं है। अथर्ववेदकी शौनक शाखामें २० काण्ड हैं।

अथर्ववेदके विविध नाम—विभिन्न ग्रन्थोंमें अथर्ववेदके ९ नाम उपलब्ध होते हैं। यथा—(१) अथर्ववेद, (२) अथर्वाङ्गिरसवेद, (३) आङ्गिरसवेद, (४) ब्रह्मवेद, (५) भृग्वङ्गिरोवेद, (६) छन्दोवेद, (७) महीवेद, (८) क्षत्रवेद तथा (९) भैषज्यवेद।

अथर्ववेदका विषय-विवेचन—अथर्ववेदके २० काण्डोंके विषयोंका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—**पहले काण्डमें** विविध रोगोंकी निवृत्ति, पाशमोचन, रक्षोनाशन, गर्भप्राप्ति और दीर्घायुकी प्राप्ति आदिके मन्त्र हैं। **दूसरे काण्डमें** विविध रोगनाशन, शत्रुनाशन, कृमिनाशन, दीर्घायुष्य आदिके मन्त्र हैं। **तीसरे काण्डमें** शत्रु-सेना-सम्मोहन, राजाका निर्वाचन, शाला-निर्माण, कृषि, पशुपालन, रोगनाशन आदिका वर्णन है। **चौथे काण्डमें** ब्रह्मविद्या, विषनाशन, राज्याभिषेक, वृष्टि, पापमोचन, ब्रह्मोदन आदिका वर्णन है। **पाँचवें काण्डमें** ब्रह्मविद्या, लाक्षा, शत्रुनाशन, विषनाशन, रोगनाशन, ब्रह्मगवी, कृत्या-परिहार आदिका वर्णन है। **छठे काण्डमें** शत्रुनाशन, रोगनाशन, दु:स्वप्ननाशन, बल-प्राप्ति, अन्न-समृद्धि आदिका वर्णन है। **सातवें काण्डमें** आत्मा, अंजन, पूर्णिमा, अमावास्या, शत्रुनाशन, पापनाशन आदिका वर्णन है। **आठवें काण्डमें** दीर्घायु-प्राप्ति, शत्रुनाशन, प्रतिसर-मणि और विराट् आदिका वर्णन है। **नवें काण्डमें** मधुविद्या, काम, शाला, पञ्चोदन, अतिथि-सत्कार, गोमहिमा, यक्ष-नाशन, आत्मा आदिका वर्णन है। **दसवें काण्डमें** कृत्यानिवारण, ब्रह्मविद्या, वरण-मणि, सर्पविष-नाशन, विजय-प्राप्ति, मणिबन्धन, ज्येष्ठब्रह्म आदिका वर्णन है। **ग्यारहवें काण्डमें** ब्रह्मोदन, रुद्र, प्राण, ब्रह्मचर्य, पाप-मोचन, ब्रह्म और शत्रुनाशन आदिका वर्णन है। **बारहवें काण्डमें** भूमिसूक्त, ब्रह्मगवी, स्वर्गोदन, वशा गौ आदिका वर्णन है। **तेरहवें काण्डमें** अध्यात्मका वर्णन है। **चौदहवें काण्डमें** विवाह-संस्कारका वर्णन है। **पंद्रहवें काण्डमें** व्रात्य तथा ब्रह्मका वर्णन है। **सोलहवें काण्डमें** दु:खमोचनका वर्णन है। **सतरहवें काण्डमें** अभ्युदयार्थ प्रार्थना है। **अठारहवें काण्डमें** पितृमेधका वर्णन है। **उन्नीसवें काण्डमें** यज्ञ, पुरुष, सूक्त, नक्षत्र, विविध मणियाँ, छन्द, अथर्ववेदका विभाजन, काम-काल आदिका वर्णन है और **बीसवें काण्डमें** सोमयागका वर्णन है।

कौशिक सूत्रके अनुसार वर्ण्य विषय—कौशिक गृह्यसूत्रको ही कौशिक सूत्र भी कहा जाता है। अथर्ववेदके वर्ण्य विषयोंके ज्ञानके लिये यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गृह्यसूत्र है। इसमें १६ संस्कारोंके अतिरिक्त अथर्ववेदके सभी सूक्तोंका विनियोग वर्णित है। इसमें यातुविद्या अर्थात् विभिन्न मन्त्रोंद्वारा जादूके प्रयोगकी विस्तृत प्रक्रिया भी दी गयी है।

आयुर्वेदके अष्टाङ्ग-विभाग और अथर्ववेद

चरक आदि संहिता ग्रन्थोंमें आयुर्वेदके अष्टाङ्ग-विभागानुसार वर्णन देखनेको मिलते हैं, परंतु इसके बहुत पूर्व वेदोंमें तीन प्रकारके कष्टों या दु:खोंके उपचारके लिये तीन ही प्रकारके प्रतिकार या उपाय (आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक) किये जाते थे। अष्टाङ्ग-आयुर्वेदका सर्वप्रथम नामकरण किसने किया, यह कहना दुष्कर है। प्राक्कालमें या संहिताकालमें अष्टाङ्ग-आयुर्वेदके

पृथक्-पृथक् अङ्गके विशेषज्ञोंका बाहुल्य था। जैसे महर्षि काश्यप कौमारभृत्य और अगदतन्त्रके विशिष्ट आचार्य थे, इसी प्रकार शल्यतन्त्रके भासुकि, कायचिकित्साके भारद्वाज और गार्ग्य, गालव, जनक, निमि आदि शालाक्य-तन्त्रके ज्ञाता थे। ऋक्, यजु और सामवेदके अतिरिक्त अथर्ववेदमें अष्टाङ्ग-आयुर्वेदकी सामग्री प्रचुर रूपमें पायी जाती है। अथर्ववेदके अभिचार-मन्त्रोंमें आगत सामग्रीका विशद वर्णन छान्दोग्योपनिषद् (७। १। २)-के अनुसार भूतविद्या-प्रसंगमें मिलता है। अथर्ववेदमें अष्टाङ्गके विषय यत्र-तत्र बिखरे हुए दृष्टिगोचर होते हैं। सुश्रुतसंहिताके अनुसार निम्न पंक्तियोंमें आयुर्वेदके आठ अङ्गोंका स्पष्टीकरण किया गया है, जैसे—

(१) शल्य—विभिन्न प्रकारके तृण, प्रस्तर, अस्थि आदि, दूषित व्रण, अन्त:शल्य, गर्भशल्य आदिके निष्कासन-हेतु यन्त्र-शस्त्र, क्षार और अग्निके प्रयोग एवं व्रणके विनिश्चयके लिये जो कर्म किये जाते हैं, वे शल्यकर्म हैं।

(२) शालाक्य—ऊर्ध्वजत्रु रोग—सिर, नेत्र, नासा, कर्ण आदिमें होनेवाले रोगोंकी शान्तिके लिये तथा नेत्र-रोगमें शलाकाद्वारा किये जानेवाले कर्मको 'शालाक्य' कहते हैं।

(३) काय-चिकित्सा—ज्वर, अपस्मार, कुष्ठ आदि रोगोंकी शान्तिके लिये किये जानेवाले उपायको 'काय-चिकित्सा' के नामसे पुकारते हैं।

(४) भूत-विद्या—देव-गन्धर्व आदिके आवेशको शान्त करनेके लिये किये जानेवाले कर्मको 'भूत-विद्या' कहते हैं।

(५) कौमार-भृत्य—बालकोंके भरण-पोषण, धात्रीकी परीक्षा आदिका विधान जिसमें वर्णित हो, उसे 'कौमारभृत्य' कहते हैं।

(६) अगद-तन्त्र—सर्प, कीट आदिके दंशसे उत्पन्न विष तथा नानाविध स्थावर-विषोंकी शान्तिहेतु जिसमें उपाय बताये गये हों, वह 'अगद-तन्त्र' है।

(७) रसायन—वय:स्थापन, आयुष्य, बल और ओजकी वृद्धिके लिये तथा व्याधिसमुदायको दूर करने-हेतु जिसमें उपाय बताया गया हो वह 'रसायन' है।

(८) वाजीकरण—क्षीण-वीर्य-दोषको दूर करने, शुक्रसंशोधन, वृद्धावस्था दूर करने, अश्वसदृश पौरुष-शक्ति उत्पन्न करने एवं व्यवायमें अतिहर्षके निमित्तका जिसमें वर्णन किया गया हो वह 'वाजीकरण' के अङ्गमें परिगणित है।

अष्टाङ्ग-आयुर्वेदका विवेचनात्मक पर्यालोचन

(१) अथर्ववेद एवं अथर्वसाहित्यमें शल्यतन्त्र—यह एक आश्चर्यजनक सत्य है कि प्राचीन शल्यविशारदोंकी तुलनामें अर्वाचीन शल्यशास्त्री अभी बहुत कुछ पीछे हैं। साधारण व्रणकी चिकित्सा तथा अति दुष्कर शल्य-कर्ममें प्राचीन आथर्वण वैद्य या शल्यशास्त्री आश्चर्यकारक कर्म करते थे। अथर्ववेद[१] में शरीरसे पृथक् हुई अस्थियोंको रथके विभिन्न अङ्गोंके सदृश जोड़कर रथकी ही तरह मनुष्यको स्वस्थ बना देनेवाला आदेश दिया गया है। मूत्राघात[२] रोगमें शर तथा शलाका आदिद्वारा मूत्रको निकालने या भेदन करनेका आदेश दिया गया है। दु:ख[३]-प्रसव तथा विकृत-प्रसवके लिये योनि-भेदन करनेका वर्णन मिलता है। कष्टसाध्य[४] लोहिनी और कृष्णा नामक अपचीको किसी विशेष शरसे भेदन करनेके लिये उल्लेख प्राप्त होता है। अपची[५] को पकानेके लिये लवणका उपचार आदि शल्य-प्रक्रियाओंका वर्णन भी किया गया है। ऋग्वेद[६] में अश्विनीकुमारोंद्वारा नाना चमत्काररूप भैषज्य विषय देखे जाते हैं, जैसे—दासोंद्वारा अग्नि और जलमें फेंकनेपर, पुन: सिर एवं वक्ष:स्थलके टुकड़े-टुकड़े करनेपर भी जीवित दीर्घतमा ऋषिको अश्विनीकुमारोंने स्वस्थ कर दिया। कौशिक सूत्रमें अथर्ववेदीय मन्त्रोंके विनियोगके प्रदर्शनमें

---

१. यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान । ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत्परुषा परु: ॥ (अथर्व० ४। १२। ७)

२. विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्। तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं हिष्टे अस्तु बालिति॥ (अथर्व० १। ३। १)

३. वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधा:। सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ॥ (अथर्व० १। ११। १)

४. अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम । मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम्॥ (अथर्व० ७।७४। १)

५. आ सुस्रस: सुस्रसो असतीभ्यो असत्तरा:। सेहोररसतरा लवणाद्विक्लेदीयसी: ॥ (अथर्व० ७।७६। १)

६. उपस्तुतिरौचथ्यमुरुष्येन्मा मामिमे पतत्रिणी वि दुग्धाम्। मा मामेधो दशतयश्चितो धाक् प्र यद् वां बद्धस्त्मनि खादति क्षाम्॥ (ऋ० १। १५८। ४)

अथर्ववेदके विभिन्न मन्त्रोंकी महिमाको दर्शाते हुए चौथे अध्यायमें '**अथ भेषजानि**' से प्रारम्भ करके रोगोंके प्रतिकारके लिये विभिन्न मन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित करके जल, औषधि आदि पिलाना तथा मार्जन, हवन आदि अनेकों उपाय दिये हैं।

(२) शालाक्य-तन्त्र—इस तन्त्रमें ऊर्ध्वजत्रुकी व्याधियाँ जैसे—सिर, नेत्र, नासिका, गला आदिके रोगोंका वर्णन आता है। अथर्ववेद[1] में सम्पूर्ण सिरके रोगों तथा कानके रोगोंको दूर करनेका आदेश मिलता है। इन मन्त्रोंमें शीर्षक्ति, शीर्षामय और शीर्षण्य—सिरके इन तीन रोगोंका नामकरण मिलता है, जो पृथक्-पृथक् व्याधियाँ मालूम होती हैं। कुष्ठ नामक औषधिको शीर्षामय तथा नेत्ररोगनाशक कहा गया है। नेत्रके रोगोंके सम्बन्धमें अथर्ववेदमें विभिन्न साधनोंपर चिकित्साका वर्णन है, कहीं जल-चिकित्सा, कहीं आजनमणि तो कहीं जङ्गिडमणिके प्रयोगसे तथा कहीं कुष्ठ औषधि तो कहीं दिव्य सुवर्ण[2] के उपचार मिलते हैं।

(३) काय-चिकित्सा—आयुर्वेदके अष्टाङ्गोंमें काय-चिकित्साका वर्णन अथर्ववेदमें प्रचुर-रूपेण देखनेको मिलता है तथा इसके विनियोग कौशिक सूत्रमें स्थान-स्थानपर ओषधिके रूपमें तथा उपचार-रूपमें देखे जाते हैं। अथर्ववेदमें लगभग ज्ञात और अज्ञात तथा छोटी-बड़ी सौ व्याधियोंका वर्णन मिलता है। अथर्ववेदके नवम काण्डके ८वें सूक्तमें व्याधियोंके नामकरणकी एक सूची मिलती है, जिसके प्रथम चार मन्त्रोंमें सिरके रोगोंका वर्णन है। ५ से लेकर ९ तकके मन्त्रोंमें प्रचलित व्याधियोंका वर्णन किया गया है। हृदय और उदरकी व्याधियोंका वर्णन दससे लेकर १४ मन्त्रोंमें स्पष्ट वर्णित है। १५ से लेकर १७ तकके मन्त्रमें पार्श्वास्थि तथा गुदास्थिका वर्णन है। १८ से २१ तकके मन्त्रोंमें विशल्यक, विद्रधि आदि रोगोंके नामके साथ पाद, जानु एवं श्रोणिका वर्णन मिलता है। अथर्ववेदमें कुछ ऐसे रोगोंका वर्णन और चिकित्सा भी मिलती है, जो नीरोग होनेमें कालापेक्षी हैं तथा कुछ ऐसी व्याधियोंका उल्लेख मिलता है, जो अल्पकालापेक्षी तथा अस्पष्ट हैं।

विशिष्ट एवं कालापेक्षी व्याधियोंके नाम—तक्मन्, आस्राव, मूत्रावरोध, नाडीव्रण, जलोदर, शीर्षक्ति, कास, किलास, क्षेत्रियरोग, जायान्य (क्षय), अपचित, श्लेष्म, बलास, हरीमा और हृदयामय आदि।

क्षुद्र एवं अल्पकालिक व्याधियाँ—पलित, पापयक्ष्मा, अज्ञातयक्ष्मा, अक्षत, विसर, पृष्ठयामय, आश्रीक, विश्रोक, विशल्यक, विद्रधि, क्षिप्त, हृद्योत, जलजि, शूल, पामा, पक्षाघात, अरिष्ठ, तृष्णा, अस्थिभङ्ग, जम्भ, संहनु, अङ्गभेद, अङ्गज्वर, लोहित, शमोलुनकेश, रुधिरास्राव, काहाबाह, कर्णशूल, विषूचिका तथा अप्वा आदि।

अथर्ववेदीय साहित्यमें व्याधियोंके वर्गीकरण या काय-चिकित्सात्मक निदानादि दृष्टिकोणसे विभाग नहीं देखे जाते, जैसा कि चरक, सुश्रुत आदि संहिताओंमें वर्गीकरण देखे जाते हैं। निज और आगन्तुक व्याधियोंका पृथक्करण सूत्र-रूपेण अथर्ववेदमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, परंतु अथर्ववेदके स्त्रीकर्माणि प्रकरण तथा कौशिक सूत्रके कण्डिका ३२ के २८ से २९ सूत्रमें मानस-रोगोंका दिग्दर्शन अत्यन्त स्पष्ट है।

४-भूत-विद्या—अष्टाङ्ग-आयुर्वेदका एक अङ्ग भूत-विद्या भी है, जिसमें गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, ग्रह आदिके आवेशसे दूषित शरीर एवं मनकी शान्तिके लिये कुछ कर्म जैसे—दान, पूजा आदि किये जाते हैं, यह भूत-विद्या है। इसका आदि स्रोत अथर्ववेद है। चरक, सुश्रुत तथा काश्यप आदि संहिता ग्रन्थोंमें पूतना या स्कन्द आदि ग्रहोंको बालरोगका कारण माना गया है। आयुर्वेदने उन्माद, अपस्मार आदि मानसिक एवं शारीरिक व्याधियोंके कारणोंमें भूत, प्रेत, पिशाच तथा गन्धर्वको भी एक कारण माना है।

(५) कौमारभृत्य—आयुर्वेदके अष्टाङ्ग-विभागोंमें कौमारभृत्य भी एक अङ्ग है। गर्भाधान[3], गर्भकी पुष्टि, गर्भ[4]-की रक्षा, सुखप्रसव[5] एवं जन्मकालके अमाङ्गलिक

१. शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम् । सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ (अथर्व० ९।८।१)

२. जङ्गिडमणि (अथर्व० १९।३५।३), कुष्ठ औषधि (अथर्व० ५।४।१०), दिव्य सुपर्ण ओषधि (अथर्व० ५।४।२)

३. (अथर्व० ५।२५।१—३) (अथर्व० ६।८१।१—३), ४. (अथर्व० ६।१७।१—४), ५. (अथर्व० १।११।१—६)

६. (अथर्व० ६।११०।१—३)

क्षणोंमें हानिकर प्रभाव[६]को दूर करनेके लिये अनेक मन्त्र अथर्ववेदमें मिलते हैं। अथर्ववेदमें कुछ ऐसे भी मन्त्र हैं जिनमें औषधि, मन्त्र एवं रक्षायन्त्र (ताबीज, कवच)-का प्रयोग निर्दिष्ट है[१] और सुखप्रसव[२]के लिये भी मन्त्रोंका बाहुल्य वहाँ उपलब्ध होता है।

कौशिक सूत्र[३]की ३५वीं कण्डिकामें पुंसवन-संस्कारके लिये उपाय बताये गये हैं।

(६) अगद-तन्त्र—अथर्ववेदमें अगद तन्त्रसे सम्बन्धित विषय जैसे—स्थावर और जङ्गम-विष, सर्प, वृश्चिक, विषाक्त कीटाणु तथा विषाक्त बाण इत्यादिके विषयमें अनेकों मन्त्र[४] मिलते हैं। ऋग्वेद[५]में भी सर्पविष, वृश्चिकविष तथा विषाक्त कीटोंसे सम्बन्धित मन्त्र पाये जाते हैं। अथर्ववेदके एक मन्त्र[६]के अनुसार सूर्य, अग्नि, पृथ्वी, वनस्पति तथा कन्दमें यदि विष है तो उसे नष्ट करने या दूर करनेका आदेश दिया गया है। अथर्ववेदमें अनेक विषाक्त सर्पोंके नाम उपलब्ध होते हैं। विषको नष्ट करनेके लिये कुछ वनस्पतियों[७]से सम्बन्धित मन्त्र भी मिलते हैं। अथर्ववेदके चौथे काण्डमें विषाक्त[८] घातक विषको नष्ट करनेके लिये स्पष्ट वर्णन मिलता है। अथर्ववेदके छठे[९] काण्डमें सर्पविषकी चिकित्साके लिये जलको महत्त्वपूर्ण बताया गया है। चरकमें भी चिकित्सास्थान (२३, २५)-में जलसे परिषेचन और अवगाहन बताया गया है। दसवें[१०] काण्डमें पैत्व (श्वेत आक), तौदी और धृताची वनस्पतिका सर्पविषहरके लिये उल्लेख है।

कौशिक सूत्र[११]में सब प्रकारके विषस्तम्भके लिये उपाय दिये गये हैं। वृश्चिकविषको नष्ट करनेका भी उल्लेख है। जैसे—अथर्ववेदके ७वें काण्डके ५६वें सूक्त (१—८)-का जप करते हुए ज्येष्ठीमधु (जेठी मधु)-को पीसकर तथा निर्दिष्ट मन्त्रसे अभिमन्त्रित कर रोगीको पान कराना चाहिये तथा क्षेत्रकी बल्मीक मिट्टीको पशु-चर्ममें बाँधकर कवचकी तरह धारण करना चाहिये।[१२]

(७) रसायन-तन्त्र—जो औषधि रसादि धातुओंमें क्षीणता न आने दे तथा व्याधियोंको विनष्ट कर स्वस्थ रखे, वही रसायन है। अथर्ववेदमें ऐसे अनेकों सूक्त[१३] हैं, जिनमें जल तथा इसके गुणोंकी प्रशंसा की गयी है तथा जलको वृद्धावस्था और व्याधि दूर करने एवं अनश्वरता पैदा करनेवाला द्रव्य बताया गया है। कुछ मन्त्रों[१४]में बताया गया है कि जल विभिन्न प्रकारके रोगोंका औषध है तथा यह शारीरिक दोषोंको दूर करके शरीर एवं त्वचाको सुस्थिर तथा स्वस्थ बनाता है। अथर्ववेद जलको रस मानता है तथा जलसे अक्षय बल[१५] और प्राणकी याचना करता है।

(८) वाजीकरण—अथर्ववेदमें पुरुषत्वके विकास या वृद्धिके लिये अनेक मन्त्रोंका उल्लेख मिलता है। कुछ मन्त्रोंमें अश्व, हस्ति, गर्दभ और वृषभ-सदृश पुरुषत्व[१६] शक्तिके अर्जनके लिये प्रार्थना की गयी है।

उपसंहार—वेदोंमें विशेषकर अथर्ववेदमें आयुर्वेदके विषय यत्र-तत्र बिखरे पड़े रहनेके कारण अष्टाङ्ग-आयुर्वेदके विभागरूपेण वर्गीकरणका अभाव परिलक्षित होता है, पर जो भी सामग्री सूत्ररूपमें उपलब्ध है, उसीका उपबृंहण होता चला गया। चरक आदि संहिता ग्रन्थोंमें इसका परिष्कृत रूप दिखलायी देता है। अथर्ववेदके सूत्र-ग्रन्थ कौशिक सूत्रमें अथर्ववेदीय भैषज्यसामग्रीका विनियोग स्पष्टरूपसे प्राप्त होता है। इस प्रकार आयुर्वेदकी वेदमूलकता सर्वथा स्पष्ट है।

---

१. (अथर्व० १।८१।१—३), २. (अथर्व० १।११।१—६), ३. कौ०सू० ३५।५
४. अथर्व० ४।६।१—८, ४।७।१—७, ७।८८।१,
५. ऋग्वेद ७।५०, १।१९१, ६. अथर्व० १०।४।२२, ७. अथर्व० २।२७।२,
८. अथर्व० ४।६।५, ९. अथर्व० ६।१२।३, १०. अथर्व० १०।४।५—७, १०।३।२४,
११.कौ०सू० २९।२।८, अथर्व० ५।१३।२ १२. कौ०सू० ३२।५—७ (केशव टीका),
१३. अथर्व० ३।७।५, ६।२४।२,
१४. अथर्व० ३।७।५—७, ४।३३, ६।२२—२४,
१५. अथर्व० ३।१३।५, १६. अथर्व० ४।४।८

ऋग्वेदका उपवेद आयुर्वेद—उद्भव एवं इतिहास

(दण्डी स्वामी श्रीमद् दत्तयोगेश्वरदेवतीर्थजी महाराज)

'वेद' लौकिक एवं अलौकिक ज्ञानका साधन है। भगवान् मनु कहते हैं कि '**श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः**' अर्थात् वेदोंको ही 'श्रुति' कहते हैं। यद्यपि '**अनन्ता वै वेदाः**' ज्ञान अनन्त है, अतः वेद भी अनन्त हैं, ऐसा कहा गया है तथापि मुण्डकोपनिषद् चार वेद—१-ऋग्वेद, २-यजुर्वेद, ३-सामवेद और ४-अथर्ववेदको ही मान्यता प्रदान करता है—'**ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः।**'—इन चारों वेदोंके चार उपवेद भी हैं जो इस प्रकार हैं—

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
स्थापत्यवेदमपरमुपवेदश्चतुर्विधः ॥

जिस प्रकार 'अथर्ववेद'का उपवेद 'अर्थवेद' (स्थापत्यशिल्पशास्त्र) है और उसके निर्माता विश्वकर्मा हैं (शिल्पशास्त्रके ज्ञाताको 'मयासुर' भी माना गया है), 'सामवेद' का उपवेद 'गान्धर्ववेद' (संगीतशास्त्र) है और उसके कर्ता नारदमुनि हैं, 'यजुर्वेद'का उपवेद 'धनुर्वेद' (युद्धशास्त्र) है और उसके कर्ता विश्वामित्र हैं; उसी प्रकार 'ऋग्वेद'का उपवेद 'आयुर्वेद' (वैद्यकशास्त्र) है[१] और उसके उपदेष्टा धन्वन्तरि हैं।

जैसे छिद्रविहीन नौकासे ही नदीको पार करना सम्भव है, उसी प्रकार बिना रोगोंवाले स्वस्थ देहसे ही भवसरितासे पार होना शक्य है। इसीलिये '**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**' कहा गया है। 'अवधूत-गीता' में कायासिद्ध भगवान् 'श्रीदत्तात्रेय' शिवसुत 'कार्तिकस्वामी' को उपदेश करते हैं कि—

चिन्ताक्रान्तं धातुबद्धं शरीरं
नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम्।
तस्माच्चित्तं सर्वतो रक्षणीयं
स्वस्थे चित्ते बुद्धयः सम्भवन्ति॥

(८। २७)

इस श्लोकका सारांश यह है कि स्वस्थ देह रहनेपर ही क्रमशः स्वस्थ प्राण, स्वस्थ चित्त और स्वस्थ बुद्धि होना सम्भव है; फलतः 'स्व-स्वरूपबोध' सम्भव (शक्य) है। अतः 'देह' (शरीर)-का स्वस्थ (नीरोग) होना अत्यन्त आवश्यक है।

स्वस्थ देह रखनेके लिये हमारे प्राचीन कृपालु ऋषियोंने प्राचीनतम 'ऋग्वेद'का स्वानुभवपूर्ण उपवेद 'आयुर्वेद' हमें प्रदान किया है। इस 'आयुर्वेद'के 'अष्टाङ्ग' (आठ अङ्ग) इस प्रकार बताये हैं—

१-काय, २- शल्य, ३-शालाक्य, ४-बाल, ५-ग्रह, ६-विष, ७-रसायन और ८-वाजीकरण।

महर्षि चरकरचित बृहद्ग्रन्थ 'चरकसंहिता' के सूत्रस्थान (३०। २३)-में आयुर्वेद शब्दकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—'**तदायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः**''' **यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेदः।**' अर्थात् जो 'आयुष्य' का ज्ञान कराता है वह 'आयुर्वेद' है''' तथा जो 'आयुष्य' के हितप्रद और हानिकारक द्रव्य-गुण-कर्मको समझाकर कहता है, वह 'आयुर्वेद' कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि आयुर्वेद मनुष्यका दीर्घायुष्य-सम्बन्धी विचारकर्ता उपवेद है।

'काश्यपसंहिता' में आयुर्वेदका इतिहास इस प्रकार वर्णित है—'**स्वयम्भूर्ब्रह्मा प्रजाः सिसृक्षुः प्रजानां परिपालनार्थमायुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत्।**' अर्थात् 'प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छा करनेवाले ब्रह्माने प्रजाके परिपालन-हेतु प्रथम आयुर्वेदका ही निर्माण किया था।' ब्रह्माने एक लाख श्लोकोंकी 'आयुर्वेदसंहिता' की रचना की थी और इसका नाम 'ब्रह्मसंहिता' रखा था। इस समय वह अनुपम सम्पूर्ण ग्रन्थरत्न उपलब्ध नहीं है, परंतु उस ग्रन्थके सोलहसे भी अधिक 'योग' आयुर्वेद-ग्रन्थमें प्राप्त हैं। उनमेंसे तीन योग इस प्रकार हैं—१-चन्द्रप्रभावटी, २-ब्राह्मीतेल और ३-ब्राह्मरसायन।

ब्रह्माने अपनी इस आयुर्वेद-विद्याको दक्ष-प्रजापति तथा भास्करको प्रदान किया। दक्षप्रजापतिकी परम्परामें सिद्धान्तका तथा भास्करकी परम्परामें चिकित्सा-पद्धतिका

१-दूसरे मतसे आयुर्वेद अथर्ववेदका उपवेद है—'तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या।' (चरक० सूत्र० ३०। २१) तथा 'इह खल्वायुर्वेदं नामोपाङ्गमथर्ववेदस्य०' (सुश्रुत० सू० १। ६)

प्राधान्य था।

दक्षप्रजापतिसे अश्विनीकुमारोंने आयुर्वेदका पूर्ण अध्ययन किया था। वायुपुराण (४९) कहता है कि 'अश्विनीकुमारोंने क्षीरसागर-स्थित 'चन्द्रपर्वत' (मानसरोवर-समीपस्थ 'गुर्ला-मान्धाता' पर्वत)-पर उत्तम प्रकारकी औषधियाँ उत्पन्न करनेका तथा यथासमयमें उनका उपयोग करनेका शुभ कार्य किया था।' पुराणोंमें वह कथा प्रसिद्ध है कि जिसमें वयोवृद्ध च्यवन ऋषिको अश्विनीकुमारोंने अपनी अद्भुत आयुर्वेदिक चिकित्साद्वारा 'तारुण्य' (यौवन) प्राप्त करवा दिया था। अश्विनीकुमारोंका वह आयुर्वेद-ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है, किंतु 'आश्विनसंहिता', 'चिकित्सा-सार-तन्त्र', 'अश्विनीकुमारसंहिता' इत्यादि ग्रन्थोंका उल्लेख अन्य ग्रन्थोंमें मिलता है।

अश्विनीकुमारोंने ही देवराज इन्द्रको आयुर्वेदका ज्ञान प्रदान किया था। स्वयं इन्द्रने 'ऐन्द्रियरसायन', 'सर्वतोभद्र', 'दशमूलादि तेल', 'हरितक्यवलेह' इत्यादि योगोंका निर्माण किया था।

देवराज इन्द्रने आयुर्वेदका अद्भुत ज्ञान महर्षि भृगु, महर्षि अंगिरा, महर्षि अत्रि, महर्षि वसिष्ठ, महर्षि अगस्त्य, महर्षि पुलस्त्य, मुनि वामदेव, मुनि गौतम, मुनि असित आदि दस महापुरुषोंको प्रदान किया था। इनमें महर्षि भृगु तो चिकित्सा-प्रवीण थे। महर्षि अत्रिको महा-आयुर्वेद अर्थात् आयुर्वेदका महान् ज्ञाता कहा गया है। महर्षि कश्यपरचित आयुर्वेदिक संहिता 'वृद्धजीवकीय तन्त्र' नामसे प्रसिद्ध है। महर्षि अगस्त्यका ग्रन्थ 'द्वैधनिर्णय-तन्त्र' और मुनि वामदेवका 'आयुर्वेद-संहिता' नामक ग्रन्थरत्न प्रसिद्ध है। 'चरकसंहिता' में ऐसी कथा है कि 'ऋषिगणोंने लोककल्याणके लिये ऋषि भारद्वाजको अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर देवराज इन्द्रके पास (स्वर्गमें) आयुर्वेदका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये भेजा था। इन्द्रने भारद्वाजको वह सम्पूर्ण ज्ञान दे दिया। भारद्वाजने [पृथ्वीपर] वापस आकर वह ज्ञान अन्य ऋषि-मुनियोंको दिया था।'

भावप्रकाश नामक ग्रन्थ (१। १५)-में ऐसा कहा गया है कि 'देवराज इन्द्रसे प्राप्त आयुर्वेदका ज्ञान ऋषि भारद्वाजने तन्त्रग्रन्थके रूपमें आबद्ध किया था [ऐसा पता चला है कि चेन्नई—मद्रासके एक ग्रन्थालयमें हस्तलिखित तमिल-भाषामें 'भारद्वाजीय प्रकरण' और 'भेषज-कल्प' नामक ग्रन्थ विद्यमान है]।'

भारद्वाज ऋषिका एक शिष्य द्वितीय धन्वन्तरि नामसे था। उस बुद्धिमान् शिष्यने भिषक्-क्रियासहित आयुर्वेदका पूर्ण ज्ञान गुरुकृपासे प्राप्त किया था। उसने उस ज्ञानको आठ अङ्गोंमें विभक्त कर अपने शिष्योंको सिखाया था। ऐसे विद्वान् द्वितीय धन्वन्तरिको ऋषियोंने दो उपाधियाँ प्रदान की थीं—१-सर्वरोगप्रणाशन और २-आयुर्वेदप्रवर्तक। द्वितीय धन्वन्तरिने 'शल्यशास्त्र' का बहुत प्रचार किया। उनके ग्रन्थोंमें संनिपात-कलिका, धातुकल्प, रोगनिदान, वैद्य-चिन्तामणि, धन्वन्तरि-निघण्टु इत्यादि बहुत प्रसिद्ध थे।

भारद्वाज ऋषिका दूसरा शिष्य पुनर्वसु-आत्रेय नामका था। 'चरकसंहिता' में कहा गया है कि वह शिष्य बड़ा जिज्ञासु वृत्तिका था। वह अपने साथ आयुर्वेद-निष्णात ऋषि-मुनियोंको लेकर हिमालयमें शक्तिशाली अद्भुत औषधियों एवं वनस्पतियोंके शोधके लिये परिभ्रमण करता रहता था। वह काय-चिकित्सा-निष्णात था। उसे लोग 'चलता-फिरता (जंगम) औषधालय' कहते थे। तत्कालीन ऋषियोंद्वारा वह 'भिषग्विद्याप्रवर्तक' की उपाधिसे सम्मानित था।

द्वितीय धन्वन्तरिने शल्य-तन्त्रमें प्रावीण्य और उसके मित्र पुनर्वसु-आत्रेयने भिषग्विद्यामें प्रसिद्धि प्राप्त की थी। उसके छः शिष्य थे—१-अग्निवेश, २-भेल, ३-जतूकर्ण, ४-पराशर, ५-हारीत और ६-क्षारपाणि। प्रत्येक शिष्योंने अपने-अपने नामसे आयुर्वेदके अच्छे-अच्छे ग्रन्थोंकी रचना की है, जैसे—१-अग्निवेशतन्त्र, २-भेल-संहिता, ३-पराशर-संहिता, ४-जतूकर्ण-काय-चिकित्सा, ५-हारीत-आयुर्वेद-संहिता और ६-क्षारपाणि-काय-चिकित्सा-तन्त्र।

देवराज इन्द्रके शिष्य निमिने शालाक्यतन्त्र नामक एक ग्रन्थकी रचना की। इस निमिके शिष्य करालने स्वयं कराल-तन्त्रमें नेत्ररोगके छानबे प्रकार वर्णित किये हैं। करालका उल्लेख चरकसंहिताके 'अक्षिरोग-प्रकरण' में है।

मुनि शौनक रचित शालाक्य-तन्त्र आयुर्वेदीय ग्रन्थरत्न था। कुछ लोगोंकी ऐसी मान्यता है कि इस ग्रन्थका रचयिता भद्रशौनक था।

बाह्लिक देश (अफगानिस्तान)-का प्रसिद्ध शालाक्य-तन्त्रज्ञ कांकायन था, जिसके असंख्य शिष्य थे। गार्ग्य,

गालव, सात्यकी आदिने धन्वन्तरिसे 'शल्य-शास्त्र' का ज्ञान प्राप्तकर 'शालाक्य-तन्त्र' नामसे प्रसिद्ध ग्रन्थोंकी रचना की थी। कई विद्वान् इस धन्वन्तरिको दिवोदास-धन्वन्तरि कहते हैं। उसने 'शल्य-चिकित्सा' का अच्छा प्रचार-प्रसार किया था। उसके सात विद्वान् शिष्य थे, जिनमेंसे एक था विश्वामित्रसुत सुश्रुत। ऐसा मत 'सुश्रुतसंहिता' (चि० २। ३)-का है। 'शालिहोत्रसंहिता' का मत है कि सुश्रुत विश्वामित्रका पुत्र नहीं, अपितु मुनि शालिहोत्रका पुत्र था। 'सुश्रुतसंहिता' के तीन पाठ इस प्रकार हैं—१-सुश्रुतसंहिता, २-वृद्ध-सुश्रुतसंहिता और ३-लघु-सुश्रुतसंहिता।

धन्वन्तरिके अन्य विद्वान् भिषक्-शिष्योंमें औपधेनव, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित, वैतरण, भोज, भालुकी, दारुक आदिने आयुर्वेदके ग्रन्थोंकी रचना की है।

काश्यपसंहितामें कहा गया है कि भृगु-वंशके ऋषि ऋचीकके पुत्र वृद्धजीवकने कश्यपसे आयुर्वेदके 'कुमार-तन्त्र' का ज्ञान प्राप्त किया था। वृद्धजीवकका ग्रन्थ 'वृद्धजीवकीय तन्त्र' नामसे जाना जाता है। एक और कुमारभृत्याचार्य (रावण) हो गया है, जिसने 'बाल-चिकित्सा', 'नाडी-परीक्षा', 'अर्क-प्रकाश' तथा 'उदेश-तन्त्र' इत्यादि प्रसिद्ध ग्रन्थोंकी रचना की है।

विविध प्रकारके विषोंके शमनके लिये उपाय बतानेवाले तन्त्रको 'अगद-तन्त्र' कहते हैं। कश्यप, उशना और बृहस्पति—ये तीनों 'अगद-तन्त्र' के आचार्य माने गये हैं।

आयुर्वेदका सबसे प्रभावी अङ्ग 'रस-तन्त्र' है। सुश्रुतसंहिता (सूत्र० १।७)-में कहा गया है कि '**रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं च।**' अर्थात् रसायन-तन्त्र शतायुदायक, बल-बुद्धिवर्धक और रोगोंका अपहारक है। असंख्य ऋषि-मुनि-योगी योगबल एवं रसायनबलके प्रभावसे दीर्घायु हुए हैं। इस 'रसायन-तन्त्र' के प्रधानाचार्य भगवान् शिव हैं।

भृगु, अगस्त्य और वसिष्ठ—ये महर्षि रसतन्त्राचार्य माने गये हैं। ऋषि माण्डव्य, व्याडि, पतञ्जलि मुनि एवं आचार्य नागार्जुन आदि रसतन्त्रकार कहे गये हैं।

तन्त्रग्रन्थोंमें ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि नागार्जुनने 'श्रीशैलम्' (आन्ध्र-प्रदेश)-में घोर तपस्या की थी, फलतः रसेश्वर भगवान् दत्तात्रेयने प्रसन्न होकर उन्हें रसविद्याका गुह्यतम ज्ञान प्रदान किया था। तबसे उनका नाम सिद्ध-नागार्जुन प्रचलित हुआ। 'सिद्ध-नागार्जुन' ने केवल भारतकी ही नहीं, अपितु समग्र जगत्की गरीबी दूर करनेके लिये घोषणा की थी कि '**रसे सिद्धे करिष्यामि निर्दारिद्र्यमिदं जगत्।**' अर्थात् 'मैं रसविद्याके सामर्थ्यसे सुवर्णका निर्माण कर सम्पूर्ण जगत्को निर्धनतासे मुक्त करा दूँगा।'

सिद्ध-नागार्जुनद्वारा रचित ग्रन्थोंमें 'रसरत्नाकर', 'कक्षपुटम्', 'आरोग्य-मञ्जरी', 'रसेन्द्र-मङ्गल', 'सिद्ध-नागार्जुनीय' आदि हैं।

'अष्टाङ्गहृदय' नामक ग्रन्थके रचयिता वाग्भट, 'अष्टाङ्गसंग्रह' के निमित्त वृद्ध-वाग्भट, 'माधवनिदान' के कर्ता माधवकर तथा चक्रपाणिदत्त, बंगसेन, मिल्हण, बोपदेव, लोलिंबराज, मोरेश्वर आदि विद्वानोंने उपवेद आयुर्वेदके मूल्यवान् ग्रन्थोंकी रचना की है।

जिस क्रियाके योगसे देह (शरीर)-में धातुसाम्यका प्रस्थापन होता है, उस क्रियाका नाम 'चिकित्सा' है और वही शुभ कर्म वैद्यराजका है—'**साम्यं प्रकृतिरुच्यते।**'

आयुर्वेद कहता है कि 'यदि धातुसाम्य तथा समप्रकृति रखना आ जाय तो देह नीरोग रहता है। संसारमें सभी जीव त्रिगुण (सत्त्व, रजस् और तमस्) और त्रिदोष (वात, पित्त और कफ)-से बद्ध हैं। अतः त्रिगुण एवं त्रिदोषकी समानता रखना अत्यन्त आवश्यक है।'

सुश्रुतसंहिताका कहना है कि 'जब त्रिदोष (वात, पित्त और कफ), सप्तधातु (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र) तथा मल सम होते हैं, तब देह स्वस्थ, रोग-रहित—नीरोग होता है।

अष्टाङ्गहृदयमें वाग्भट लिखते हैं कि 'सभी प्रकारके रोग-दोषोंका निवारण करुणा, दया, क्षमा तथा द्वेषहीन शुद्ध मनद्वारा किया जा सकता है। '**करुणार्द्रं मनः शुद्धं सर्वज्वरविनाशनम्॥**' (चिकित्सित० १। १७३) आधुनिक 'चिकित्सा-विज्ञान' भी इस सत्यको अब मानने लगा है।'

'आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः'

(वैद्य श्रीदयारामजी अवस्थी शास्त्री, एम्०ए०, आयुर्वेदाचार्य, बी०आई० एम०एम०)

सर्वप्रथम हमें यह समझना उपयुक्त होगा कि आयुर्वेद है क्या, जिसके उपदेशोंको हम स्वास्थ्य-हेतु परम श्रद्धासे स्वीकार करें।

आयुर्वेद शब्द आयु और वेद—इन दो शब्दोंसे बना है।

आयु शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—**एति—गच्छति इति 'आयुः'**। **'इण्'** धातुसे **एतेर्णिच्च** (उ० २। २८३) सूत्रद्वारा 'उसि' प्रत्यय करनेपर निष्पन्न होता है। आयुका अर्थ होता है जीवितकाल और उसके पर्यायवाची हैं धारि, जीवित, नित्यग एवं अनुबन्ध। यह आयु शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व और आत्माका संयोगरूप है। आचार्य चरकने कहा है—

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते॥

(च० सू० १।४२)

जिस शास्त्रमें शरीर तथा इन्द्रिय आदिका वर्णन हो अथवा आयुके विषयमें जिससे जानकारी प्राप्त हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं—

आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वा आयुर्विन्दन्ति इत्यायुर्वेदः।

(सु० सूत्र० १।१५)

और भी—

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥

(च० सू० १।४१)

संक्षेपमें यह आयु चार प्रकारकी होती है—(१) हितायु, (२) अहितायु, (३) सुखायु और (४) दुःखायु। इन चारों प्रकारकी आयुके लिये प्रमाण और अप्रमाण आयुर्वेदशास्त्रमें वर्णित हैं। आयुका मान चेतना-निवृत्ति (गर्भसे मरणपर्यन्त चेतनाका रहना) है।

आयुर्वेदके उपदेशोंका पालन करनेपर आयु हितायु और सुखायु होती है अन्यथा अहितायु और दुःखायु होती है।

हित और सुख-आयु ही धर्म, अर्थ और सुखको दे सकती है। इसलिये वाग्भट-संहितामें कहा है—

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः॥

(अष्टाङ्गहृदय सूत्र० १।२)

चरकसंहितामें भी कहा गया है कि आरोग्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चतुर्विध पुरुषार्थका उत्तम (प्रधान) मूल है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्॥

(च०सू० १।१५)

धर्म-अर्थ-सुख (काम और मोक्ष) तभी सम्भव है, जब यह आयु ठीक हो और इसके ठीक रहनेके लिये तथा दीर्घ जीवनके लिये इस शरीरको स्वस्थ रखे। इसलिये आवश्यक है आयुर्वेदके उपदेशोंके अनुसार सत्-आहार-विहार आदिका पालन करना; क्योंकि आयुर्वेदका प्रयोजन है—स्वस्थ व्यक्तिके स्वास्थ्यका रक्षण और रुग्ण व्यक्तिके रोगका निवारण—

स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च॥

चरक, सुश्रुत, वाग्भट तथा अन्य आयुर्वेदज्ञ ऋषि-महर्षियोंने इसे ही आयुर्वेदका प्रयोजन बताया है।[१]

आयुर्वेदके उपदेशोंको अपने जीवनमें ढालकर ऋषि-महर्षियोंने अमित सुखायु प्राप्त की थी।

दिनचर्या क्या है? रात्रिचर्या क्या है? ऋतुएँ क्या हैं? उनकी चर्या क्या है? कौन-कौनसे रोग किस कालमें होते हैं? वात-पित्त-कफादि दोष किन कारणोंसे प्रकुपित होते हैं, उनका शमन कैसे किया जाय? रोगोंको समूल नष्ट करनेके लिये संशोधनात्मक चिकित्सा (पञ्चकर्मका विधान), नित्य नये रूपमें आने (उभरने)-वाले रोग, जिनके लक्षण ज्ञात नहीं हैं उनका वर्णन तथा चिकित्सा आदि सब कुछ आयुर्वेद (भारतीय चिकित्सा-विज्ञान)-में उल्लिखित है।

इसलिये यह कहा जा सकता है कि विश्वकी समस्त

---

१. (क) धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्॥ (च० सू० १।५३)
(ख) व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः, स्वस्थस्य रक्षणं च। (सु० सू० १।१४)

चिकित्सा-प्रणालियाँ, जिनका 'प्राणिमात्र अस्वस्थ हों ही नहीं और स्वस्थकी रक्षा हो, यदि आतुर हो जाय तो उसे रोगसे छुटकारा दिलाया जाय'—यह उद्देश्य है, वह सब आयुर्वेद ही है।

भारतीय चिकित्सा-शास्त्रमें प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेसे लेकर रात्रिमें शयनपर्यन्त किस प्रकार समय व्यतीत करना चाहिये जिससे पदार्थ-चतुष्टयकी प्राप्ति हो, उसका वर्णन दिनचर्याके रूपमें यों किया गया है।

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत् स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।
शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिस्ततः॥

(अष्टाङ्गहृदय सू० २। १)

अर्थात् स्वस्थ प्राणीको प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें भगवन्नाम-स्मरण-पूर्वक उठकर शरीर-चिन्ता यानी स्वास्थ्यकी रक्षाके विषयमें विचार करनेके पश्चात् शौच आदि क्रियाके विधानको सम्पन्न करनेके बाद अगले दिनके लिये कार्यका प्रारम्भ करना चाहिये। इस प्रकार आयुर्वेदमें समस्त विषयोंका स्पष्ट वर्णन है।

पूर्ण स्वस्थ रहनेके लिये एक सूत्र है—

'हिताशी स्यात् मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः।'

अर्थात् हितकर भोजन करे, यथोचित मात्रामें भोजन करे, नियत समयपर भोजन करे और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करे।

वैद्यकीय आचारसंहिता

(वैद्य श्रीलक्ष्मीनारायणजी शुक्ल, आयुर्वेदाचार्य)

संसारकी समस्त मानव-जातिको त्रिविध तापोंसे पीडित, अनेकों शारीरिक और मानसिक रोगोंसे ग्रस्त तथा विविध बाधाओंके कारण उनके इहलोक और परलोकके हितसाधनमें निरन्तर व्यवधान डालनेवाले कष्टोंको देखकर प्राचीन कालमें तपस्वी, त्रिकालदर्शी, विद्वान् एवं आर्तत्राण-परायण महर्षियोंने अत्यन्त करुणावश होकर इन कष्टोंके निवारणहेतु समग्र जीवन-दर्शनके रूपमें जिस आरोग्यशास्त्रका प्रतिपादन और तत्त्वोपदेश किया, वही अमृत-तत्त्व आयुर्वेदके नामसे जाना जाता है। इसे पूर्ण मानव-धर्म ही कहना चाहिये, क्योंकि आयुर्वेदमें केवल रोगोंके कारण एवं उनकी चिकित्सामात्रका ही वर्णन नहीं है, प्रत्युत धर्मके समस्त सिद्धान्तोंका तथा काम-क्रोध, मोह-लोभ, ईर्ष्या-द्वेष आदि एवं इनके कारण होनेवाली शारीरिक और मानसिक व्याधियोंका तथा उनके निवारणार्थ सत्य, अहिंसा, असूया आदि धर्मके सभी अङ्गोंका भी विस्तारसे विवेचन हुआ है, इसीलिये इस शास्त्रके ज्ञानद्वारा मानव अपनी समस्त आधि-व्याधियोंसे मुक्त होकर स्वास्थ्य एवं दीर्घायु प्राप्त करते हुए अपने दोनों लोकों (इहलोक तथा परलोक)-का कल्याण एवं चतुर्विध पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष)-का सम्पादन कर सकता है।

आयुर्वेदशास्त्रका प्रादुर्भाव प्राणिमात्रके कल्याणकी पवित्र भावनासे ही हुआ है, इस शास्त्रकी प्राचीन अध्ययन-व्यवस्थाके अनुसार जो व्यक्ति इस शास्त्रका सम्यक् रीतिसे सम्पूर्ण अध्ययन करके ज्ञान प्राप्त कर लेता था, वह 'विद ज्ञाने' इस धात्वर्थके अनुसार 'वैद्य' की पदवी प्राप्त करता था तथा इसका दीर्घ कालतक मनन करते हुए इसके समग्र अध्ययन एवं अध्यापन-कार्यको सम्पादित करनेकी जो उच्च योग्यता प्राप्त कर लेता था, उसे आयुर्वेदमें 'आचार्य' की पदवी प्रदान की जाती थी और इसी प्रकार 'प्राणाचार्य'*, भिषगाचार्य आदि उपाधियाँ भी चिकित्सककी कार्यकुशलता एवं योग्यताके आधारपर प्रदान की जाती थीं, किंतु उक्त सभी कोटिके चिकित्सकोंको उनके कार्यक्षेत्रमें कार्य

* शीलवान् मतिमान् युक्तो द्विजातिः शास्त्रपारगः। प्राणिभिर्गुरुवत् पूज्यः प्राणाचार्यः स हि स्मृतः॥

(चरक० चि० १। ४। ५१)

जो चिकित्सक अच्छे स्वभाववाला हो, बुद्धिमान् हो, अपने चिकित्सा-कार्यमें सदा तत्पर हो, द्विजाति हो, आयुर्वेद-शास्त्रका भलीभाँति अध्ययन किया हो, ऐसे वैद्यको प्राणाचार्य कहते हैं, वह प्राणियोंके लिये गुरुके समान पूज्य है।

करनेकी अनुशंसा या अनुमति प्रदान करनेसे पूर्व महर्षियोंद्वारा जिस दायित्वपूर्ण सदाचारका उन्हें पाठ पढ़ाया जाता था, वही उन चिकित्सकोंकी आचारसंहिता कही जाती है।

इस आचारसंहिताका आयुर्वेदमें अनेक स्थानों एवं संदर्भोंमें—जैसे अध्ययनसे पूर्व योग्य शास्त्रका चयन, इस विषयके ज्ञानदाता आचार्योंकी योग्यता एवं कुशलताका परीक्षण, योग्य शिष्योंका चयन करते समय उनके बौद्धिक एवं चारित्रिक गुणोंके स्तरका भी पूर्ण परीक्षण आदि—विस्तारसे वर्णन हुआ है। यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओंपर ही प्रकाश डालना अभीष्ट है—

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि इस पवित्र चिकित्सा-कार्यका मूल उद्देश्य विश्वकल्याण एवं पीडित मानवकी सेवा करना ही रहा है, अतः महर्षि चरक अपने स्नातकोंको स्पष्ट निर्देश देते हैं कि—

नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति।
वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते॥

(चरक० चि० १।४।५८)

अर्थात् जो चिकित्सक अपने स्वार्थ एवं काम्य वस्तुओंकी प्राप्ति (इच्छित वस्तुओंकी प्राप्ति)-की परवाह न करते हुए केवल प्राणियोंके कल्याणकी भावनासे ही चिकित्सा-कार्य करते हैं, वे ही सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक कहलानेके योग्य हैं। इसके विपरीत जो चिकित्सक केवल व्यावसायिक बुद्धिसे चिकित्सा-कार्यमें प्रवृत्त होते हैं उन्हें अधम कोटिका चिकित्सक माना जाता है। उनके लिये आचार्य चरकका कहना है—

कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्।
ते हित्वा काञ्चनं राशिं पांशुराशिमुपासते॥

(चरक० चि० १।४।५९)

अर्थात् जो मूर्ख चिकित्सक इस ईश्वरीय ज्ञानका उपयोग अपनी वृत्ति अर्थात् पेट भरनेके लिये, क्रय-विक्रय या सौदेबाजीसे करता है, वह सोनेके ढेरोंको छोड़कर अपने लिये केवल धूलके कणोंके ढेर ही बटोरता है, क्योंकि यह तो जीवन देनेवाला विज्ञान है, अतः परदुःखकातर होकर मनुष्यके जीवनकी रक्षापर ही प्रथम ध्यान देना चाहिये; क्योंकि जीवनदानसे बढ़कर और कोई श्रेष्ठ दान ही नहीं है। अतः इस पवित्र कार्यको कैसी उत्कृष्ट भावनासे करना चाहिये इसके लिये वे निर्देशित करते हैं—

भिषगप्यातुरान् सर्वान् स्वसुतानिव यत्नवान्।
आबाधेभ्यो हि संरक्षेदिच्छन् धर्ममनुत्तमम्॥

(चरक० चि० १।४।५६)

अर्थात् समस्त आतुरों-व्याधिपीडितोंको अपने पुत्रोंकी भाँति मानते हुए अपने मानव-धर्मके पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले चिकित्सकको उन्हें रोगोंसे मुक्त करनेका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। तो फिर उस चिकित्सककी आजीविकाका क्या होगा? इस चिन्ताका समाधान तथा चिकित्सकको आश्वस्त करते हुए कहा गया है—

क्वचिदर्थः क्वचिन्मैत्री क्वचिद्धर्मः क्वचिद्यशः।
कर्माभ्यासः क्वचिच्चैषा चिकित्सा नास्ति निष्फला॥

अर्थात् इस कार्यमें कहींसे धन, कहींसे मित्रता, कहींसे धर्म (पुण्य), कहींसे यश (कीर्ति या प्रतिष्ठा) और कहींसे कर्माभ्यास, ऐसे उनको कुछ-न-कुछ तो मिलता ही है, क्योंकि चिकित्सा-कार्य सर्वथा निष्फल हो ही नहीं सकता। अतः चिकित्सकको इन चार वृत्तियोंका पालन करते हुए अपना कर्तव्य करते रहना चाहिये। ये चार वृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

मैत्री कारुण्यमार्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम्।
प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा॥

(चरक० सू० ९।२६)

अर्थात् पीडित या दुःखी मनुष्योंके साथ मैत्रीभाव, समर्थ व्यक्तियों (साध्य व्याधिवालों)-से प्रीतिका भाव, दयनीय मनुष्योंके प्रति दयाका भाव एवं असाध्य रोगमें उपेक्षाका भाव रखना चाहिये। चिकित्सककी आजीविका-हेतु उसे और भी आश्वस्त किया गया है—

न देशो मनुजैर्हीनो न मनुष्या निरामयाः।
ततः सर्वत्र वैद्यानां सुसिद्धा एव वृत्तयः॥

अर्थात् कोई ऐसा देश नहीं है जहाँ मनुष्योंका निवास न हो और उन्हें कोई रोग न होता हो, अतएव चिकित्सकके जीवन-निर्वाहकी व्यवस्था तो सब जगह सुलभ ही है। रोगीके लिये सर्वाधिक विश्वासपात्र व्यक्ति चिकित्सक ही होता है। अतः रोगीके इस विश्वासको सदैव

कायम रखना चाहिये, क्योंकि—

मातरि पितरि पुत्रान् बान्धवानपि चतुरः।
अथैतानपि शंकेत वैद्ये विश्वासमेति च॥

अर्थात् रोगी कदाचित् अपने माता-पिता, पुत्र एवं बान्धवोंके प्रति सशंकित रह भी सकता है, किंतु चिकित्सकके प्रति तो इतना विश्वस्त होता है कि उसे वह अपना जीवन ही सौंप देता है, चिकित्सकको सदैव पक्षपातरहित होकर सत्यनिष्ठासे कार्य करना चाहिये।

यह एक विचारणीय विषय है कि कर्तव्यनिष्ठ, सेवाभावी एवं करुणापूर्ण चिकित्सकोंका निर्माण सहजमें ही नहीं हो सकता है, इसके लिये उन्हें प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षाके साथ ही उत्तम चरित्र एवं संस्कारोंसे शिक्षित करना होता है; किंतु आजकल तो प्रत्येक क्षेत्रमें इन संस्कारोंका अभाव ही हो गया है। इनके लिये हमारी वर्तमान शिक्षापद्धति भी दोषी है।

आयुर्वेद-चिकित्साका मुख्य प्रयोजन विश्वकल्याण एवं उसके द्वारा पीडित मानवकी सेवा करना ही है, इसी प्रकार अन्य सभी पद्धतियोंका भी यही पवित्र लक्ष्य निश्चित है।

किंतु आजकल चिकित्साके इस पवित्र क्षेत्रमें—चिकित्सा-जैसे जनकल्याणके पुनीत क्षेत्रमें इतनी नैतिकताका पतन अवश्य ही अत्यन्त लज्जाजनक है। इस समय अवश्य ही इस क्षेत्रमें कर्तव्यनिष्ठ, दयालु एवं परोपकारी चिकित्सकोंकी उपस्थिति है, किंतु वह नगण्य-सी ही है। इतना होनेपर भी महर्षियोंद्वारा उपदिष्ट आयुर्वेदशास्त्रके वचनोंपर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिये। उनका परम सम्मान करना चाहिये—

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः।

(अष्टाङ्गहृदय सू० १।२)

वेदोंमें आयुर्वेदका तत्त्वानुसन्धान आवश्यक

(गोलोकवासी प्रो०डॉ० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र, भूतपूर्व वेदविभागाध्यक्ष वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

आयुर्वेद जनहितकारी प्रत्यक्ष भारतीय शास्त्र है। भारतीय वाङ्मयके वर्गीकरणके अनुसार आयुर्वेदकी गणना उपवेदोंमें है। वेदोंके मन्त्र और उनसे प्रतिपादित यज्ञ-यागादि क्रियाओंकी विधि अलौकिक है, इसलिये अपरिवर्तनीय है। आयुर्वेद भी वेद है, इसके भी निर्देश जो द्रव्य, ऋतु, समय, मानव-प्रकृति आदिके हैं, वे अलौकिक तथा सामान्यतया अपरिवर्तनीय हैं। अलौकिक शब्दका अभिप्राय मानव-रचनासे परे है। प्राकृतिक औषधियोंमें गुण, ऋतु और समयका प्रभाव तथा मानवका वात, पित्त, कफादि प्रकृति-रचना मानव-रचनाकी परिधिमें नहीं है। मानव-रचनासे बहिर्भूत होनेपर भी इसमें आयुर्वेदचिकित्सा-शास्त्रद्वारा निर्दिष्ट साधनों, उपायों, विधियोंसे परिवर्तन सम्भव नहीं, बहुत अंशोंतक निश्चित कर सकता है। मूलभित्तिका अपरिवर्तन रखते हुए उसका साधनोंकी सहायतासे इच्छानुकूल प्रदर्शन—कला, स्फूर्ति या अभ्यास है। अलौकिकमें कला, स्फूर्ति या अभ्यासका संनिवेश ही आयुर्वेदको उपवेद बना देता है। प्रकृतिसिद्ध पदार्थोंमें तत्त्व, विवेक, प्रयोगजनित उपायोंसे स्वाभाविकताका परिवर्तन कर देना मानव-बुद्धिका सहयोग है। यह वेदोक्त यज्ञ-यागादि क्रियाओंमें सम्भव नहीं है। इसलिये ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व—ये चार वेद हैं और आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं अर्थवेद उपवेद हैं; क्योंकि इनमें मानवका आन्तरिक विकास या स्फूर्तिका प्रयोग-परिवर्तन करनेकी क्षमता है। फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि पदार्थोंमें प्राकृतिक या सहज शक्ति मानव-रचनासे असम्बद्ध है। इस अंशके कारण ही इस चिकित्सा-शास्त्रमें वेद शब्दको प्राचीनोंने अपनाया है।

चार वेदोंके विषयमें मानवताकी मर्यादाके सर्वप्रथम उपदेष्टा मनुने बतलाया है—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥
विभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।

(१२।९४, ९९)

पितृगण, देवता तथा मनुष्योंकी शाश्वत दृष्टि (सनातन नेत्र) वेद ही है। यह मानव या किसी भी सृष्टिके जीवद्वारा रचनामें अशक्य और अप्रतिम है। वेद समस्त प्राणियों—

मानव, पशु-पक्षी आदिका पालन-पोषण करता है। यत: आयुर्वेद भी वेद शब्दसे सम्बन्धित है, अत: इसकी शाश्वतता, सामान्य मानवकी शक्तिसे अतीतता और अप्रतिमता अपरिहार्य है। आयुर्वेदका मूल वेद है। वेदोंमें नीरोग रहनेकी प्रार्थना प्रमुख है। प्रार्थना या यज्ञक्रियाके सम्बन्धसे रोग एवं उनके निराकरणके उपायोंका भी वेदोंमें संकेत है। इन संकेतोंको कतिपय दिव्यदृष्टि महर्षियोंने स्पष्ट समझकर रोगनिवृत्तिके विचार बताये हैं। अथर्ववेदमें रोग एवं उनके निवारणके उपाय अधिक स्पष्ट है, इसलिये अथर्ववेद श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्रके उपदेशक तत्त्वज्ञ ऋषियोंने अपने सूत्र-ग्रन्थोंमें स्पष्ट प्रयोग लिखे हैं। वैदिक ग्रन्थोंके संकेत ही मनीषी आचार्योंके अनुभवसे विकसित होकर आयुर्वेद-शास्त्ररूपसे परिणत हैं।

आज भी आयुर्वेद जाग्रत् है। आयुर्वेदीय ग्रन्थोंके आदेश, प्रयोग सफल हैं। आवश्यकता है ग्राहक दृष्टिकी। यह दृष्टि सहज तथा उपेय और विधेय—तीन प्रकारसे विभक्त की जा सकती है। सहज दृष्टि पूर्वजन्मके संस्कार, गुरुसेवा, देवाराधन तथा महापुरुषोंके आशीर्वादसे ही प्रकट होती है। इसमें कार्य-कारण-भावकी कल्पना अकिंचित्कर है। उपेय दृष्टि शास्त्राभ्यास, सत्संग एवं अनुभवसे प्राप्य है। विधेय दृष्टिसे अनुसन्धान साध्य है। इस दृष्टिसे यहाँ अभिप्राय यह है कि जिन वैदिक या आयुर्वेदिक ग्रन्थोंमें प्रतिपादित विधानोंका प्रयोग अज्ञात है, उनमें आत्मविवेकका संनिवेश करते हुए कमी-बेशीके फलके द्वारा प्रयोगशैली निश्चित करना। विधेय दृष्टि अनुसन्धानमूलक है। वेदके मूल मन्त्रों—ब्राह्मणों, सूत्रग्रन्थोंमें जो निर्देश हैं, वे अज्ञात एवं अव्यवहृत हैं। उनके साम्प्रदायिक ज्ञाता छिपे हुए या दुर्लभ हैं।

आज यह आवश्यकता है कि उपलब्ध एवं कृच्छ्रोपलब्ध वैदिक ग्रन्थोंको समझनेके लिये विचारक्षम साम्प्रदायिक अध्येताओंको ढूँढ़कर उनके सहयोगसे विधेय दृष्टिके उन्मेषके लिये भी यथोचित प्रयास किया जाय। जिससे आयुर्वेदका वेदत्व स्पष्टतया परिस्फुट, विलुप्त परम्पराका पुनरुज्जीवन हो सके और उत्तम आरोग्य-प्राप्तिकी लुप्त पद्धतियोंका प्रकाश हो सके।

~~~

'जीवेम शरदः शतम्'

(वैद्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी, आयुर्वेद-वाचस्पति)

मनुष्यकी आकांक्षा वार्धक्यसे दूर रहकर दीर्घायु प्राप्त करनेकी आदिकालसे बलवती रही है। शतायु बननेकी कामना वेदोंमें निम्नलिखित रूपसे की गयी है—

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत१ँ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्। (यजुर्वेद ३६। २४)

अर्थात् 'हम सौ वर्षोंतक देखें, सौ वर्षोंतक जीयें, सौ वर्षोंतक सुनें, सौ वर्षोंतक हमारी वाक्-शक्ति बनी रहे, सौ वर्षोंतक हम स्वावलम्बी बने रहें अर्थात् किसीके आश्रित न होकर जीवित रहें।'

भारतीय दर्शनमें जीवनके चार पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षकी प्राप्तिके लिये मनुष्यका स्वस्थ एवं दीर्घायु होना आवश्यक माना गया है। इसी कारण चरकसंहिताका प्रारम्भ भी दीर्घजीवितीय नामक अध्यायसे किया गया है।

आचार्य सुश्रुतने सत्तर वर्षके बादकी अवस्थाको वृद्धावस्था माना है। उनका कहना है कि सत्तर वर्षकी उम्रके उपरान्त मानवके धातु, इन्द्रिय-बल तथा वीर्य (पराक्रम) दिन-प्रतिदिन क्षीण होने लगते हैं। मुखपर झुर्रियोंके आने, सिरके बालोंके पकने, श्वास-कास आदि रोग तथा शारीरिक क्रियाओंमें असमर्थता होनेसे बुढ़ापा परिलक्षित होने लगता है। यद्यपि भूख, प्यास, मृत्यु और नींदकी तरह जरा स्वाभाविक विकार है, पर समयसे पहले आनेवाला बुढ़ापा शतायु होनेमें सबसे बड़ा बाधक है। आयुर्वेदीय संहिताओंमें असामयिक बुढ़ापा आनेके कारणोंमें ऋतु, काल, प्रकृति तथा शास्त्र-विरुद्ध भोजन, लगातार अत्यधिक परिश्रम, दिनमें अधिक शयन, विषय-भोगका अति सेवन, नशीले पदार्थोंका उपयोग, पचनेके पूर्व फिर
~~~

भोजन, रात्रिमें भूखे पेट शयन, अधिक पैदल चलना, अति जागरण, अति भाषण, असंयम तथा चिंता, भय, क्रोध, लोभ, मोह और ईर्ष्याका उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त उच्च रक्तचाप, मधुमेह, कैंसर, हृदयरोग, मोटापा, गठिया, श्वास-रोग तथा मानसिक विकार बुढ़ापेको शीघ्र लानेके कारण बनते हैं।

वृद्धावस्थाको रोककर शतायु होनेका वर्णन आर्षग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर मिलता है। अमृत, सुधा, सोम तथा रसायन—ये सभी वैदिक ऋषियोंके आविष्कार हैं। देव-वैद्यों (अश्विनीकुमारों)-द्वारा च्यवन तथा कलि और काकशिवम्‌को वृद्धसे युवा बनाकर उनके मन और शरीरमें नयी चेतनाका संचार किये जानेका प्रमाण प्राप्त होता है। दीर्घायु प्राप्त करनेके लिये आयुर्वेदके रसायन-तन्त्रमें कुटी-प्रावेशिक (अन्तरङ्ग) तथा वातातपिक (बहिरङ्ग) ये दो पद्धतियाँ बतलायी गयी हैं। रसायनका सेवन करनेसे मनुष्य दीर्घ आयु, स्मरण-शक्ति, मेधा, आरोग्य, तरुणावस्था, कान्ति, सुन्दर वर्ण, उत्तम स्वर, देहसौष्ठव, नम्रता, वाक्-सिद्धि तथा सौन्दर्य आदि गुणोंको प्राप्त करता है। रसायन-सेवनके पूर्व पञ्चकर्मद्वारा शरीरका शोधन करना आवश्यक है। स्नेहन तथा स्वेदनके उपरान्त वमन, विरेचन, अनुवासन, आस्थापन और नस्य-क्रियाओंवाले पञ्चकर्मको बुढ़ापा टालनेके लिये बहुत कारगर पाया गया है। इससे निश्चित आयुकी तुलनामें जैविक आयु काफी कम हो जाती है। पचास वर्षके व्यक्तिको पञ्चकर्मके अभ्याससे तीस वर्षके स्वस्थ व्यक्तिकी-सी शक्ति तथा स्फूर्तिका अनुभव होता है। पञ्चकर्मसे सम्पूर्ण शरीरका निर्मलीकरण हो जाता है। आयुर्वेदमें वर्णित रसायन औषधियोंमें सामान्यतया आँवला, हरड़, पीपल, तुलसी, ब्राह्मी, अश्वगन्धा, शतावरी, मुलेठी, भिलावा, वचा, गिलोय, पुनर्नवा, सफेद मुसली, सोंठ, शंखपुष्पी, ज्योतिष्मती, रास्ना, जीवन्ती, मण्डूकपर्णी, दालचीनी तथा अष्टवर्ग प्रमुख हैं। धातुओंमें सोना, चाँदी, लोहा, पारा, अभ्रक आदि भस्म दीर्घायु प्राप्त करनेमें उपयोगी रहते हैं।

कुछ वैज्ञानिकोंका मत है कि स्तनधारी प्राणी जिस आयुमें शरीरकी पूर्ण वृद्धि प्राप्त करता है, उससे सात गुना अवधितक वह जीवित रह सकता है। प्रसिद्ध अमरीकी वैज्ञानिक डोनर डकलाके अनुसार मानव-मस्तिष्कके न्यूरोन १५० से २०० वर्षोंतक जीवित रह सकते हैं। मस्तिष्कमें १० अरबसे अधिक न्यूरोन होते हैं। प्रत्येकका अपना विद्युत् आवेग होता है। यदि मनुष्यके शरीरको क्षीण करनेवाले कारणोंको रोक लिया जाय तो यौवनको अधिक कालतक बनाये रखकर आयु बढ़ायी जा सकती है। मस्तिष्कमें स्थित पिट्यूइटरी ग्रन्थि भी एक ऐसा हारमोन तैयार करती है, जिससे प्रभावित होकर शरीर प्राणवायुके उपयोगको कम करने लगता है, फलस्वरूप अनेक कोशिकाएँ मरने लगती हैं। इसे 'मृत्युहारमोन' भी कहते हैं। इस विशेष हारमोनके निर्माणपर अंकुश लगाकर जीवनकालको बढ़ाया जा सकता है।

छोटे प्राणियोंकी हृदयगति बहुत अधिक होनेसे वे कुछ ही समयतक जीवित रहते हैं, जबकि धीमी गतिवाले प्राणियोंकी आयु ज्यादा होती है। प्रयोगोंद्वारा ज्ञात हुआ है कि हृदयकी धड़कन-संख्या घटा देनेपर प्राणीकी आयु बढ़ जाती है। इसके लिये प्राणायाम और अन्य यौगिक क्रियाएँ सार्थक पायी गयी हैं।

सदाचार-युक्त जीवनका लम्बी आयुसे बहुत गहरा सम्बन्ध है। आयुर्वेदमें वर्णित आचार और रसायन-सेवनसे शरीर तथा मानसिक भावोंकी शुद्धि होती है। आचार-रसायनके अनुसार सत्य बोलने, क्रोध न करने, मद्यपान और विषय-भोगसे दूर रहने, प्रिय बोलने, शान्त रहने, पवित्रता रखने, हिंसा न करने, तपस्वी जीवन व्यतीत करने, पूज्योंकी सेवा करनेवाले तथा धैर्यवान् और दानशील व्यक्ति दीर्घायु प्राप्त करते हैं। संतुलित नींद लेनेवाला, दयाभाव रखनेवाला, देश-कालके अनुसार दिनचर्या रखनेवाला, अहंकाररहित, जितेन्द्रिय और धर्मपरायण मनुष्य सदैव बुढ़ापेसे दूर रहकर पूर्णायु प्राप्त करता है।

सौ वर्षकी आयु प्राप्त करनेके लिये आयुर्वेदमें निम्न सूत्रका वर्णन किया गया है—

वामशायी द्विभुञ्जानः षण्मूत्री द्विपुरीषकः।
स्वल्पमैथुनकारी च शतवर्षाणि जीवति॥

अर्थात् बायीं करवट सोनेवाला, दो बार (२४ घंटेमें) भोजन करनेवाला, दिन-रातमें छः बार मूत्रत्याग तथा दो

बार मलत्याग करनेवाला और आवश्यक होनेपर अल्पमात्रामें विषयोंका सेवन करनेवाला व्यक्ति सौ वर्षोंतक जीवित रहता है। आचार्य चरकके अनुसार—

षट्त्रिंशतं सहस्त्राणि रात्रीणां हितभोजनः।
जीवत्यनातुरो जन्तुर्जितात्मा सम्मतः सताम्॥

(चरक० सू० २७। ३४८)

अर्थात् हितकारी आहार-विहार करनेवाले, जितेन्द्रिय पुरुष सज्जनोंसे प्रशंसा प्राप्त करते हुए रोगरहित होकर ३६ हजार रात्रि (दिन)-तक अर्थात् सौ वर्षोंतक जीवित रहते हैं।

शतायु होनेमें आहारकी प्रमुख भूमिका है। हितकारी, सात्त्विक तथा नियन्त्रित आहार दीर्घ जीवन प्रदान करता है। पोषक तत्त्वोंसे भरपूर, कम परिमाणमें भोजन करना गुणकारी है। अमरीकाकी 'नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ एजिंग' के अनुसार भोजनमें तीससे सत्तर प्रतिशततककी ली गयी भी खाद्य वस्तु उत्तम स्वास्थ्य और आयुवर्धनमें सहायक है। फलाहार कोशिकाओंकी धातु-पाक-क्रियामें वृद्धि करते हुए शरीरको घातक रोगोंसे बचाकर आयुमें बढ़ोत्तरी करता है। अनेक खोजोंके अनुसार बुढ़ापेमें विटामिन-सी तथा 'ई' का सेवन शरीरमें रोगके प्रतिरोधकी क्षमता उत्पन्न कर दीर्घायु प्रदान करता है। कैलिफोर्निया विश्वविद्यालयके वैज्ञानिक एल० वालफोर्डके अनुसार—भोजनपर नियन्त्रण रखकर कम कैलोरीका प्रयोग करके हम अधिक समयतक युवा रह सकते हैं। नियत समयपर किया गया भोजन आरोग्यवर्धक तथा सर्वोत्तम माना गया है। युक्तिपूर्वक किया गया भोजन आयुवर्धक तथा अयुक्तिपूर्वक किया गया भोजन आयुनाशक होता है।

रोगोंसे बचकर चिरजीवी होनेके लिये व्यायाम उत्तम साधन है। खुली हवामें किया गया व्यायाम पेशी तथा नाडी-तन्त्रको मजबूत करके तनावमुक्त करनेमें सहायक है। विश्व-स्वास्थ्य-संगठनकी रिपोर्टके अनुसार इस समय व्यायाम और परिश्रम करनेवाले जापानियोंकी औसत आयु विश्वमें सर्वाधिक है। नियत परिमाणमें नित्य किया जानेवाला व्यायाम हमारे रक्तमें सुरक्षा-तन्त्रकी कोशिकाओंके बलमें अपार वृद्धि करता है। वैज्ञानिकोंके अनुसार हमारे खूनमें कैंसर-कोशिकाएँ बनती-बिगड़ती रहती हैं तथा रोगोत्पत्तिका स्थान तलाश करती हैं। व्यायामसे हमारी सुरक्षा-प्रणाली सक्रिय होकर कैंसर-कोशिकाओंपर नियन्त्रण कर लेती हैं। व्यायाम सर्दी, गर्मी और प्रतिकूल वातावरणसे भी शरीरकी रक्षा करता है।

आयुर्वेदमें मनके प्रतिकूल परिस्थितियोंको शीघ्र बुढ़ापा लानेका कारण माना गया है। मानसिक तनाव उच्च-रक्तचाप, हृदयरोग, सिरदर्द, संधिशूल, उदररोग, अवसाद आदि बहुत-सी व्याधियोंको जन्म देता है। क्रोध तथा तनावमें एड्रीनल ग्रन्थिसे एड्रीनलीनके साथ-साथ स्त्रवित होनेवाले हारमोन ग्लूको कार्टिकोइड्स स्मरण-शक्तिको दुर्बल करते हैं तथा बुढ़ापा आनेकी प्रक्रियाको तेज कर देते हैं। शाकाहारके सेवनसे, सात्त्विक विचारवाले ग्रन्थोंके अध्ययनसे तथा भगवच्चिन्तन-ध्यान करनेसे मनुष्य तनावमुक्त रह सकता है। डॉक्टर वालेसके अनुसार 'भावातीत ध्यान' से आठ घंटेमें प्राप्त होनेवाला विश्राम मात्र बीस मिनटमें ही प्राप्त हो जाता है। यह ध्यान हृदयकी गति तथा मानसिक तनावको भी कम करता है। डॉक्टर जोविंगके मतानुसार योगसाधनासे प्लाज्मा कोर्टिसोल तथा प्लाज्मा प्रोलेक्टिनकी मात्रा घटाई जा सकती है, जिससे बुढ़ापा दूर रहता है। तनावमुक्त और विनोदपूर्ण जीवन बूढ़ोंको भी जवान बनाये रखता है।

आचार्य चरकने '**आमलकं वयःस्थापनानां श्रेष्ठम्**' कहकर यौवनको स्थिर रखनेवाले पदार्थोंमें आँवलेको सर्वोत्तम माना है। यह हृदय तथा नाडी-संस्थानके लिये पौष्टिक फल है। इसमें स्थित भरपूर विटामिन-सी दिलके दौरोंसे शरीरकी रक्षा करता है। आँवलेके नित्य सेवनसे धमनियोंमें कठोरता नहीं आती, फलस्वरूप व्यक्तिकी आयु लम्बी होती है। आँवलेसे निर्मित च्यवनप्राशका सेवन करके वृद्ध महर्षि च्यवन युवा बन गये थे। आयुर्वेदके प्राचीन ग्रन्थोंमें दीर्घ आयु प्रदान करनेवाली सैंकड़ों वनस्पतियों तथा कल्पों और रसायन-विधियोंका विस्तृत वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त शुद्ध वायु, शुद्ध जल, नित्य स्नान, स्वच्छता, उपवास, प्राणायाम और विनम्रताको अपनाकर जीवन व्यतीत करनेवाला यथार्थवादी व्यक्ति दीर्घजीवी होता है। इतना ही नहीं उसका अन्त:करण भी निर्मल रहता है और उसका जीवन सत्साधनामय हो जाता है।

आयुर्वेद और मृत्यु-विचार

(विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीरंजनसूरिदेवजी)

प्रसिद्ध प्राचीन आयुर्वेद-ग्रन्थ 'भावप्रकाश'के प्रणेता आचार्य भावमिश्रने ग्रन्थके आरम्भमें ही आयुर्वेदके उत्पत्तिक्रम एवं उसके प्रवक्ताओंका वर्णन करते हुए लिखा है कि सर्वप्रथम विश्वविधाता ब्रह्माने अथर्ववेदके सर्वस्व-स्वरूप आयुर्वेदतन्त्रको प्रकाशित किया और अपने नामसे अतिशय सरल एक लाख श्लोकोंकी 'ब्रह्मसंहिता' नामक आयुर्वेदशास्त्रकी रचना की। तदनन्तर उन्होंने इस आयुर्वेदशास्त्रकी शिक्षा दक्ष प्रजापतिको दी। पुनः दक्षने इसे स्वर्गके वैद्यके रूपमें प्रतिष्ठित दोनों अश्विनीकुमारोंको सिखाया। दक्षसे आयुर्वेदका ज्ञान प्राप्त कर अश्विनीकुमारोंने स्वतन्त्र 'आयुर्वेदसंहिता' की रचना की और फिर उसकी शिक्षा उन्होंने इन्द्रको प्रदान की। इन्द्रने अश्विनीकुमारोंसे आयुर्वेदशास्त्रका अध्ययन कर उसका ज्ञान आत्रेय आदि अनेक मुनियोंको कराया।

मुनि आत्रेय आयुर्वेद पढ़ने स्वयं इन्द्रके पास गये थे। इन्द्रसे उन्होंने साङ्गोपाङ्ग आयुर्वेदका अध्ययन किया था। तत्पश्चात् उन्होंने 'आत्रेयसंहिता' नामसे स्वतन्त्र आयुर्वेद-ग्रन्थका प्रणयन किया। तदनन्तर क्रमशः—अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, क्षीरपाणि और हारीतको आयुर्वेदतन्त्रकी शिक्षा दी। इन मुनियोंमें अग्निवेश आयुर्वेदतन्त्रके प्रथम कर्ता और प्रवक्ताके रूपमें प्रतिष्ठित हुए। उसके बाद भेल आदि मुनियोंने भी अपने-अपने आयुर्वेदतन्त्रकी रचना की और उसे अपने गुरु आत्रेय मुनिको सुनाया। वे अपने शिष्योंद्वारा रचित आयुर्वेदतन्त्रको सुनकर हर्षित हुए। अन्य मुनियों और देवताओंने भी उनके आयुर्वेदतन्त्रकी प्रशंसा की।

एक बार हिमालयके पास भरद्वाज आदि अनेक मुनि पधारे। पधारनेवालोंमें भरद्वाज मुनि सर्वप्रथम थे। सबके परामर्शानुसार रोगजनित मृत्युके भयसे मुक्तिका उपाय जाननेके लिये भरद्वाज इन्द्रके पास गये। उनसे उन्होंने साङ्गोपाङ्ग आयुर्वेदका अध्ययन किया। तदनन्तर उन्होंने सभी देहधारियोंको हजार वर्ष नीरोग जीवन जीनेकी विधि बतायी।

इन्द्रके अंशभूत शेष नामके मुनि पृथिवीवासियोंके कुशल-क्षेमकी जिज्ञासा और अनामयपृच्छाके निमित्त चरकी तरह गुप्तरूपसे धरतीपर आये, जहाँ उन्होंने रोगसे मरते हुए लोगोंको देखा। तब रोगोंके उपशमनके लिये आत्रेय मुनिके अग्निवेश आदि शिष्योंद्वारा रचित आयुर्वेदतन्त्रका संस्कार करके एक स्वतन्त्र आयुर्वेद-ग्रन्थकी रचना की, जो 'चरकसंहिता' नामसे प्रसिद्ध हुई। शेष नामक मुनि चरकी भाँति धरतीपर आये थे, इसलिये वे आचार्य चरकके नामसे विख्यात हुए।

एक बार इन्द्रकी दृष्टि धरतीपर पड़ी, जहाँ उन्होंने व्याधि-पीडित और मृत्युभयसे आक्रान्त लोगोंको देखा। दयासे द्रवित होकर उन्होंने आयुर्वेदके आदिदेवके रूपमें लोकपूजित धन्वन्तरिको पृथ्वीपर भेजा। इन्द्रकी आज्ञासे धन्वन्तरि काशीके दिवोदास राजाके रूपमें अवतीर्ण हुए, जिन्होंने इन्द्रसे आयुर्वेद पढ़कर उसे लोकजीवोंके स्वास्थ्यकी रक्षाके लिये धरतीपर प्रकट किया। काशिराज नामसे प्रसिद्ध धन्वन्तरिने अपने नामसे 'धन्वन्तरिसंहिता' का निर्माण किया और उसकी शिक्षा लोगोंको दी।

विश्वामित्रने अपने पुत्र सुश्रुतको काशिराजके पास आयुर्वेद पढ़नेके लिये भेजा। सुश्रुतने काशिराजसे निवेदन किया कि रोगसे पीडित लोगोंको रोते और मरते देखकर मैं व्यथित हूँ, इसलिये आप मुझे आयुर्वेद पढ़ाइये। काशिराजने यत्नपूर्वक सुश्रुतको आयुर्वेदका ज्ञान प्रदान किया। अध्ययनके बाद सुश्रुतने भी स्वतन्त्र रूपसे आयुर्वेद-ग्रन्थकी रचना की, जो 'सुश्रुतसंहिता' नामसे प्रसिद्ध हुई। सुश्रुतके अतिरिक्त उनके सहाध्यायी मित्रोंने भी अपने-अपने नामसे आयुर्वेदतन्त्रका प्रणयन किया।

आयुर्वेदके प्रवर्तकों और प्रवक्ताओंके इस विवरणसे यह स्पष्ट है कि रोगसे होनेवाली मृत्युसे बचनेके लिये ही आयुर्वेदशास्त्रकी सृष्टि की गयी। भावमिश्रने रोगोंके अनिष्टकारी कार्योंका आकलन करते हुए उन्हें प्राणहारी कहा है। मूल श्लोक इस प्रकार है—

रोगाः कार्श्यकरा बलक्षयकरा देहस्य चेष्टाहरा
दुष्टा इन्द्रियशक्तिसंक्षयकराः सर्वाङ्गपीडाकराः।
धर्मार्थाखिलकाममुक्तिषु महाविघ्नस्वरूपा बलात्
प्राणानाशु हरन्ति सन्ति यदि ते क्षेमं कुतः प्राणिनाम्॥

(भावप्रकाश—आयुर्वेदप्रवक्तृ-प्रादुर्भावप्रकरण, श्लोक ४५)

अर्थात् रोग शरीरको कृश करते हैं, बलका क्षय करते हैं, देहकी सक्रियताका हरण करते हैं, दोषयुक्त वे रोग इन्द्रियोंकी शक्तिका भी विनाश करते हैं और सारे अङ्गोंको पीडा देते हैं। सबसे बढ़कर तो यह कि रोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थोंकी प्राप्तिमें महाविघ्न-स्वरूप हैं और शीघ्र ही बलपूर्वक प्राण हर लेते हैं। यदि इस प्रकारके रोग शरीरमें विद्यमान हैं तो फिर प्राणियोंका कल्याण कैसे सम्भव है?

भावमिश्रने आयुर्वेदके लक्षणोंका निर्देश करते हुए लिखा है—

आयुर्हिताहितं व्याधेर्निदानं शमनं तथा।
विद्यते यत्र विद्वद्भिः स आयुर्वेद उच्यते॥

(भावप्रकाश—आयुर्वेदप्रवक्तृप्रादुर्भावप्रकरण, श्लोक ३)

अर्थात् आयुकी रक्षाके लिये हितकारी एवं अहितकारी तत्त्वोंके ज्ञानके साथ रोगोंका निदान और उनका शमन जिस तन्त्र या शास्त्रसे विद्वानोंद्वारा जाना जाता है, उसे आयुर्वेद कहते हैं।

पुनः 'आयुर्वेद' शब्दकी निरुक्तिके संदर्भमें भावमिश्र लिखते हैं—

अनेन पुरुषो यस्मादायुर्विन्दति वेत्ति च।
तस्मान्मुनिवरैरेष आयुर्वेद इति स्मृतः॥

(भावप्रकाश—आयुर्वेदप्रवक्तृप्रादुर्भावप्रकरण, श्लोक ४)

अर्थात् जिस शास्त्रसे पुरुष आयु-लाभ करता है और आयुके बारेमें भी जानता है, उसे ही मुनिवरोंने आयुर्वेद कहा है।

वैद्यकर्मका निर्देश करते हुए भावमिश्रने लिखा है—

व्याधेस्तत्त्वपरिज्ञानं वेदनायाश्च निग्रहः।
एतद्वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्यः प्रभुरायुषः॥

(भावप्रकाश—मिश्रप्रकरण, मिश्रवर्ग, श्लोक ५३)

अर्थात् रोगोंका तत्त्व-परिज्ञान करना यानी सम्यक् परिचय प्राप्त करना और रोगजनित वेदनाका शमन करना ही वैद्यका वैद्यत्व है, वैद्य आयुका स्वामी नहीं है। तात्पर्य यह कि वैद्य रोगीकी पीडा दूर कर सकता है, आयुकी रक्षा नहीं कर सकता।

इस अर्थके अनुसार वैद्य जब आयुकी रक्षा नहीं कर सकता, तब समग्र आयुर्वेदशास्त्रकी ही व्यर्थता सिद्ध हो जायगी और '**अनेन पुरुषो यस्मादायुर्विन्दति**' यह निरुक्ति भी निरर्थक हो जायगी। इसलिये इस संदर्भके सही अर्थके निमित्त वैद्यकर्म-निर्देशविषयक उक्त श्लोकके चतुर्थ चरणमें प्रयुक्त '**न**' का अन्वय इस प्रकार होगा—'**एतदेव वैद्यस्य वैद्यत्वं न, किंतु वैद्य आयुषोऽपि प्रभुः।**' अर्थात् वैद्यका वैद्यत्व यही नहीं है, अपितु वैद्य आयुका भी स्वामी है।

इसपर यह प्रश्न उठता है कि यदि वैद्य आयुका स्वामी हो जायगा, तब तो मनुष्य मरेगा ही नहीं, वह अमर हो जायगा, जब कि मनुष्यकी अमरता मृत्युलोकके नियमके विपरीत है। इसका समाधान करते हुए 'सुश्रुतसंहिता' में धन्वन्तरि कहते हैं—

एकोत्तरं मृत्युशतमथर्वाणः प्रचक्षते।
तत्रैकः कालसंयुक्तः शेषाश्चागन्तवः स्मृताः॥

(भावप्रकाश—विवृतिश्लोक संग्रह ६ में 'सुश्रुतसंहिता' से उद्धृत)

अर्थात् अथर्ववेदोक्त आयुर्वेदके तत्त्वज्ञाता पुरुषके कथनानुसार मृत्युकी संख्या एक सौ एक है। इनमें एक मृत्यु कालमृत्यु है शेष सौ मृत्युएँ आगन्तुक हैं।

चिकित्सा करनेवाला वैद्य चिकित्साद्वारा इन्हीं सौ प्रकारकी आगन्तुक मृत्युओंसे मनुष्यको बचाता है।

आयुके अन्तमें शरीरका जो संहारकर्ता होता है, उसे ही काल कहते हैं। कालमृत्युको किसी भी उपायसे टाला नहीं जा सकता। श्लोक-प्रयुक्त '**कालसंयुक्तः**' का अर्थ है—कालके द्वारा संहारके लिये नियुक्त। इसलिये कालमृत्यु अवश्यम्भावी है। शेष सौ मृत्युएँ चूँकि आगन्तुक हैं, इसलिये इनके निवारणमें आयुर्वेद समर्थ है और इसी हेतु आयुर्वेदशास्त्रकी सृष्टि हुई।

आयुर्वेदमें आगन्तुक मृत्युके जो कारण बताये गये हैं, उनमें प्रमुख हैं—विषभक्षण करना और अजीर्ण जो पच न सके यानी अधिक भोजन करना तथा दूषित स्थानोंका जल पीना, अपनेसे अधिक बलशाली जीव-जन्तुओंसे लड़ना, विषैले जन्तुओं—साँप, बिच्छू आदिसे खेलना, ऊँचे पेड़ोंकी फुनगीपर चढ़ना, बड़ी-बड़ी नदियोंको तैरकर पार करना, रातमें अकेले राह चलना या किलेमें घूमना इत्यादि।

ज्ञातव्य है, आयु रहनेपर भी आगन्तुक मृत्यु दुर्निमित्त

एवं होनीकी प्रबलताके कारण मनुष्यको मार डालती है। जैसे तेल-बत्ती और लौके रहनेपर भी आँधी दीपकको बुझा देती है।

वैद्य मृत्युके आगन्तुक कारणोंका निवारण कर सकता है, इसलिये रस-रसायनके ज्ञाता वैद्य और मन्त्रवेत्ता पुरोहित यत्नपूर्वक आगन्तुक दोषोंके कारणोंसे राजाकी रक्षा करें। ऐसा 'सुश्रुतसंहिता'में धन्वन्तरिका वचन है—

दोषागन्तुनिमित्तेभ्यो रसमन्त्रविशारदौ।
रक्षेतां नृपतिं नित्यं यत्नाद्वैद्यपुरोहितौ॥

निष्कर्ष यह कि आयुर्वेदका अधीती वैद्य या कोई भी चिकित्सक आगन्तुक मृत्युको ही रोक सकता है, कालमृत्युको नहीं। 'माधवनिदान'के अनुसार जो वैद्य 'संनिपातज्वर'की चिकित्सा करता है, वह मृत्युसे लड़ता है। इस संदर्भमें यह पंक्ति स्मरणीय है—

'मृत्युना सह योद्धव्यं संनिपातं चिकित्सता।'

सचमुच रोगकी चिकित्सा करते समय चिकित्सक मृत्युसे जूझता है। यहाँ मृत्युसे तात्पर्य आगन्तुक मृत्युसे ही है।

भावमिश्रने इसी संदर्भमें वैद्योंको निर्देश किया है कि वे चिकित्सा करनेके पूर्व रोगीके दीर्घायु और स्वल्पायु होनेके लक्षणोंका प्रयत्नपूर्वक परीक्षण करें। उसके बाद ही उसकी चिकित्सा करना स्वीकार करें। अन्यथा उनका चिकित्सा-कार्य सफल नहीं हो सकेगा। मूल श्लोक इस प्रकार है—

भिषगादौ परीक्षेत रुग्णस्यायुः प्रयत्नतः।
तत आयुषि विस्तीर्णे चिकित्सा सफला भवेत्॥

(भावप्रकाश—मिश्रप्रकरण, मिश्रवर्ग, श्लोक ५४)

अर्थात् वैद्य पहले प्रयत्नपूर्वक रोगीकी आयुका परीक्षण करे। आयु बड़ी रहनेपर ही चिकित्सा सफल हो सकती है।

आयुर्वेद मूलतः आयुर्विज्ञान है, जिसका सीधा सम्बन्ध शरीरसे है। शरीर ही जीता और मरता है। इसलिये आयुर्वेदशास्त्रमें आयु और मृत्युका विचार शरीराश्रित है।

आयुर्वेदीय निदानकी अनूठी पद्धति—नाडी-परीक्षा

(वैद्य श्रीगोविन्दप्रसादजी उपाध्याय, विभागाध्यक्ष रोगनिदान विज्ञान विभाग, आयुर्वेद महाविद्यालय, नागपुर)

आयुर्वेदमें व्याधि-निदानको बहुत महत्त्व दिया गया है। आचार्योंका स्पष्ट निर्देश है कि पहले रोगका ज्ञान करे, तदनन्तर अपने पास उपलब्ध औषधिका ज्ञान करे, तब उपचार प्रारम्भ करना चाहिये—

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्।
ततः कर्मं भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्॥

(चरकसंहिता)

आयुर्वेदशास्त्रमें रोगनिदानके लिये रोगकी परीक्षा है और रोग-परीक्षणके माध्यमसे अनेक साधन बताये गये हैं, जिनमें अन्यतम है नाडी-परीक्षा।

विश्वकी सभी चिकित्सा-पद्धतियोंमें रोगीकी परीक्षाके क्रममें नाडीकी परीक्षाका विधान है, किंतु जितना व्यापक विचार नाडी-परीक्षाके संदर्भमें आयुर्वेदने किया है, उतना अन्य किसी भी चिकित्सा-पद्धतिमें नहीं किया गया है। आयुर्वेदमें नाडी-परीक्षा रोगनिदानकी पर्याय बन चुकी है। किसी वैद्यके पास रोगी आता है तो बिना अधिक चर्चा किये वह नाडीकी परीक्षा-हेतु अपना हाथ आगे बढ़ा देता है और अपेक्षा रखता है कि वैद्यजी नाडी-परीक्षा करके मेरा सम्पूर्ण निदान कर दें। कुछ ऐसे नाडी-वैद्य भी हुए हैं जो मात्र नाडीकी परीक्षा करके रोगीके लक्षण, व्याधि, परिणाम और आहार-विहारका सत्य-सत्य वर्णन कर देते थे।

वस्तुतः रोगीकी परीक्षाका विधान आयुर्वेदमें अति प्राचीन है और उन परीक्षणोंमें स्पर्श-परीक्षा एक स्वतन्त्र विज्ञान है। स्पर्श-परीक्षाके अन्तर्गत गतिमान् या स्फुरण करनेवाले अङ्गोंका स्पर्श कर परीक्षा करनेका स्पष्ट निर्देश है। इसी क्रममें नाडी-परीक्षा आती है। नाडी-परीक्षाकी व्यापक उपादेयताके कारण यह विज्ञान क्रमशः विकसित होता गया और इसके उपबृंहणमें प्राचीन योगशास्त्र एवं तन्त्र-विज्ञानका भरपूर सहयोग मिला है। रावण तथा कणाद आदि महर्षियोंने नाडीशास्त्रपर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं एवं योगरत्नाकर, शार्ङ्गधर आदिने सामग्री प्रस्तुत की है। रोगीका

शरीर व्याधिका आश्रय होता है। रुग्णावस्थामें शरीरके कुछ अङ्गोंमें अनुपेक्षणीय परिवर्तन आते हैं, जिनसे व्याधि-निदान-सम्बन्धी निश्चित संकेत मिलते हैं। आचार्योंने ऐसे आठ स्थानों (भावों)-में नाडी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श, नेत्र एवं आकृतिका वर्णन किया है, जहाँ ये परिवर्तन अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट एवं व्यापक स्वरूपके होते हैं—

रोगाक्रान्तस्य देहस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्।
नाडी मूत्रं मलं जिह्वां शब्दस्पर्शदृगाकृतीः॥

(योगरत्नाकर)

वैद्यको रोगग्रस्त व्यक्तिके इन आठ अङ्गोंकी परीक्षा करनी चाहिये। इनमें भी नाडी-परीक्षाको प्रथम और अनिवार्यरूपसे प्रत्येक आचार्योंने परिगणित किया है। आयुर्वेदकी परम्पराके अनुसार जो प्रधान होता है, उसका प्रथम उल्लेख किया जाता है। इस आधारपर इन परीक्षाओंमें नाडी-परीक्षा प्रमुख है। अन्य अङ्गोंकी परीक्षा स्थानिक विकृतियों या सीमितरूपसे सर्वाङ्गविकृतियोंको प्रकट करती है, परंतु नाडी-परीक्षाकी उपादेयता बहुत व्यापक है। नाडीके ज्ञानसे यह जान लिया जाता है कि शरीरमें प्राण है या नहीं। हाथके अँगूठेके मूलके नीचे जो नाडी है वह जीवके साक्षी-स्वरूप है। यथा—

करस्याङ्गुष्ठमूले या धमनी जीवसाक्षिणी।
तच्चेष्टया सुखं दुःखं ज्ञेयं कायस्य पण्डितैः॥

(शार्ङ्गधर पूर्वखण्ड ३।१)

नाडीकी परीक्षा-विधि

(Methods of Pulse Examination)

नाडी-परीक्षा एक तान्त्रिक विज्ञान है, अतः उसकी परीक्षाके कुछ सुनिश्चित विधि-विधान हैं, कुछ निषेध हैं। नाडी-परीक्षा-सम्बन्धी साहित्यके अनुशीलनसे ज्ञात होता है कि नाडी-परीक्षा-विधानके तीन पक्ष हैं—(१) चिकित्सक-सम्बन्धी, (२) रोगी-सम्बन्धी और (३) परीक्षा-सम्बन्धी।

चिकित्सक-सम्बन्धी[1]—

(१) चिकित्सकको स्थिरचित्तसे तन्मयताके साथ नाडी-परीक्षा करनी चाहिये अर्थात् मन तथा बुद्धिकी एकाग्रताके साथ नाडीकी परीक्षा करे।

(२) नाडी-परीक्षा करते समय चिकित्सक सुखासनसे पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख बैठकर परीक्षण करे।

(३) चिकित्सकद्वारा मद्य-जैसे किसी भी मादक द्रव्यका सेवन करके नाडी-परीक्षा करना निषिद्ध है।

(४) नाडी-परीक्षा करते समय मल-मूत्र आदिका वेग नहीं रहना चाहिये अन्यथा एकाग्रता नहीं बनती है।

(५) धनके लोभी, कामुक चिकित्सक नाडी-परीक्षा-द्वारा निदान करनेमें असमर्थ रहते हैं अर्थात् लोभ तथा काम-वासनासे रहित होकर नाडी-परीक्षा करनी चाहिये।

(६) चिकित्सकको अपने दायें हाथकी तीन अँगुलियोंद्वारा नाडी-परीक्षा करनी चाहिये।

(७) नाडी-परीक्षामें उतावलापन उचित नहीं है। कम-से-कम दो मिनट नाडी-परीक्षा करनी चाहिये।

रोगी-सम्बन्धी[2]—

(१) रोगीने मल-मूत्र-विसर्जन कर लिया हो अर्थात् मलोंका वेग-विधारण नहीं होना चाहिये।

(२) जब रोगी सुखासनसे बैठा हो, हाथ जानुके अंदर हो या आरामसे लेटा हो, तब परीक्षा करे।

(३) वह भूख-प्याससे पीडित न हो।

(४) तत्काल भोजन नहीं किया हो, सोया न हो, धूपसे न आया हो।

(५) व्यायाम तथा स्नान करनेके तत्काल बाद नाडी-परीक्षा न करे।

(६) व्यवाय (मैथुन) किया हुआ न हो एवं भूखे पेट न हो, मद्यपानरहित हो। उपवास न किया हो और

---

१. स्थिरचित्तो निरोगश्च सुखासीनः प्रसन्नधीः। नाडीज्ञानसमर्थः स्यादित्याहुः परमर्षयः॥
पीतमद्यश्चञ्चलात्मा मलमूत्रादिवेगयुत्। नाडीज्ञानेऽसमर्थः स्याल्लोभाक्रान्तश्च कामुकः॥ (नाडीज्ञानतरंगिणी)

२. सद्यःस्नातस्य सुप्तस्य क्षुत्तृष्णातपशीलिनः। व्यायामश्रान्तदेहस्य सम्यङ्नाडी न बुध्यते॥ (भावप्रकाश)
भुक्तस्य सद्यःस्नातस्य निद्रितस्योपवासिनः। व्यवायश्रान्तदेहस्य भूतावेशिनि रोदने॥
सुन्दरीणां च संयोगे मद्यपाने मतिभ्रमे। अपस्मारश्रान्तदेहे सम्यङ्नाडी न बुध्यते॥ (वसवराजीयम्)
त्यक्तमूत्रपुरीषस्य सुखासीनस्य रोगिणः। अन्तर्जानुकरस्थो हि नाडी सम्यक् परीक्षयेत्॥ (नाडीज्ञानतरंगिणी)

शरीर थका न हो।

(७) काम, क्रोध, शोक, भयग्रस्त, उद्विग्न, चञ्चल-मनवाले रोगीकी नाडी-परीक्षा न करे अथवा उन मनोभावोंको शान्त कर परीक्षा करनी चाहिये।

इन कारणोंसे नाडीकी प्राकृत गतिका यथोचित ज्ञान नहीं हो पाता। **'सम्यङ्नाडी न बुध्यते'** से यही तात्पर्य है कि इन आहार-विहार, मनोभावोंके प्रभावसे नाडीकी स्वाभाविक गतिमें परिवर्तन आ जाता है और शरीर-दोष एवं रोग-सम्बन्धी वास्तविक गतिका ज्ञान नहीं हो पाता।

परीक्षा-सम्बन्धी[१] **—**

(१) प्रातः खाली पेट नाडी-परीक्षा करनेकी परम्परा है।

(२) रोगीको आरामसे लिटाकर या बैठाकर नाडी-परीक्षा करनी चाहिये।

(३) बैठे हुए रोगीका कुहनीसे आगेका हाथ वैद्य अपने बायें हाथपर रखे। ऊर्ध्वमुख-मुद्रामें, फिर मणिबन्ध-संधिमें अङ्गुष्ठ-मूलसे एक अंगुल नीचे, तीन अँगुलियोंसे बहिः-प्रकोष्ठीया धमनीका परीक्षण करे। बायें हाथके सहारेके कारण हाथ शिथिल रहता है और नाडीकी गति स्पष्ट मिलती है।

(४) रोगीकी अँगुलियोंको अंदरकी ओर थोड़ा मोड़कर केलेके समान आकार देकर रखना चाहिये।

(५) स्त्रियोंकी बायें हाथकी, पुरुषोंकी दायें हाथकी नाडी देखनेका विधान है। उत्तम तो यह है कि स्त्रियों तथा पुरुषों दोनोंहीकी नाडी दोनों हाथोंमें देखनी चाहिये। अनेक बार दोनों हाथोंकी गतियोंमें परस्पर भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। पुरुषकी पहले दायीं फिर बायीं तथा स्त्रीकी पहले बाँयी फिर दायीं नाडीकी परीक्षा करनी चाहिये।

(६) वैद्यको अपनी तर्जनी, मध्यमा, अनामिका—तीनों अँगुलियोंसे नाडीकी परीक्षा करनी चाहिये। एक-एक अँगुली उठाकर फिर थोड़ा दबाव डालकर गति देखनी चाहिये।

(७) मणिबन्धकी नाडी-गतिमें भ्रम या अस्पष्टता-सी स्थिति हो तो अन्य स्थानकी नाडी देखनी चाहिये और उनका परस्पर समन्वय करके देखना चाहिये।

(८) परीक्षण-हेतु रखी अँगुलियोंको उठाकर पुनः नाडीपर थोड़ा दबाव डालते हुए तीन बार परीक्षा करनी चाहिये। अब अंशांश दोष-विकृतिका या व्याधिका विनिश्चय करना चाहिये।

दोषानुसार नाडीकी गति—

आयुर्वेदने स्वास्थ्य एवं रोग—इन दोनोंके लिये क्रमशः दोषोंकी साम्यता एवं वैषम्यको उत्तरदायी माना है। दोषोंकी तीन अवस्थाएँ हैं—(१) वृद्धि, (२) क्षय एवं (३) साम्यता या समावस्था। इनमें समावस्था स्वास्थ्यके लिये और वृद्धि तथा क्षय-अवस्थाएँ रोगके लिये कारणीभूत होती हैं। अन्य शारीरिक क्रियाओंके साथ-साथ नाडीगतिमें भी इन दोषोंकी अवस्थाओंका प्रभाव पड़ता है—

दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम्।
क्षीणा जहति स्वं लिङ्गं समाः स्वं कर्म कुर्वते॥

अर्थात् प्रवृद्ध दोष अपने कार्योंको, गुणोंको प्रवृद्ध करते हैं तथा क्षीण हुए दोष अपने कार्यों, गुणोंको कम करते हैं, घटाते हैं तथा सममात्रामें रहनेपर वे अपने निर्धारित कार्योंको सम्पन्न करते हैं। ठीक इसी प्रकार नाडीमें इन दोषोंकी स्थितियाँ मिलती हैं अर्थात् प्रवृद्ध दोष नाडीमें अपनी प्रव्यक्तता और भी अधिक व्यक्त करते हैं तथा क्षीण दोष अपने स्थान, प्रव्यक्तता एवं गतिमें—ह्रास (कमी) प्रकट करते हैं। जब कि समावस्थामें दोष अपनी निर्धारित गति एवं स्थानपर उपलब्ध होते हैं। जैसा कि शास्त्रोंने उल्लिखित किया है कि तर्जनीके नीचे वायु, मध्यमाके नीचे पित्त और अनामिकाके नीचे कफकी नाडी प्रव्यक्त होती है—

वातेऽधिके भवेन्नाडी प्रव्यक्ता तर्जनीतले।
पित्ते व्यक्ताऽथ मध्यायां तृतीयाङ्गुलिका कफे॥

प्रव्यक्ततासे तात्पर्य है कि बिना अधिक दबाव किये नाडीका स्पन्दन किस अँगुली-विशेषके नीचे अधिक उछालके साथ प्रतीत होता है। इस परीक्षामें अँगुलियोंकी स्थिति तथा दबावका विशेष ध्यान रखना चाहिये अर्थात् अँगुली अपने स्थानपर स्थित हो, ऊपर या नीचे न रहे तथा अत्यन्त अल्प दबाव देनेकी अपेक्षा रहती है। अधिक

---

१. ईषद्विनम्रकृतकूर्परवामभागे हस्ते प्रसारितसदङ्गुलिसंधिके च।
अंगुष्ठमूलपरिपश्चिमभागमध्ये नाडी प्रभातसमये प्रहरं परीक्ष्या॥ (योगरत्नाकर)
एकाङ्गुलं परित्यज्य मणिबन्धे परीक्षयेत्। अधःकरेण निष्पीड्य त्रिभिरङ्गुलिभिर्मुदः॥
लघुवामेन हस्तेन चालम्ब्यातुरकूर्परम्। स्फुरणं नाडिकायास्तु शास्त्रेणानुभवैर्निजैः॥ (नाडी-परीक्षा)
वारत्रयं परीक्षेत धृत्वा धृत्वा विमोचयेत्। विमृश्य बहुधा बुद्ध्या रोगव्यक्तिं विनिर्दिशेत्॥ (योगरत्नाकर)

दबाव देनेपर प्रव्यक्तता समझनेमें भ्रम हो सकता है।

गतिके अनुसार दोष-ज्ञान—दोषोंके अनुसार कुछ विशिष्ट गतियोंका वर्णन बड़ी प्रधानताके साथ आयुर्वेदिक ग्रन्थोंमें किया गया है। गति-संख्याकी दृष्टिसे वात-नाडी विषम अर्थात् कभी अल्प, कभी तीव्र तथा कभी मन्द गति मिलती है। पित्तके कारण चपला अर्थात् तीव्र गति एवं कफके कारण स्थिरा या स्तब्धा अर्थात् मन्द गति मिलती है—

वाते वक्रगतिर्नाडी चपला पित्तवाहिनी।
स्थिरा श्लेष्मवती प्रोक्ता सर्वालिङ्गा च सर्वगा॥

(नाडी-परीक्षा)

विशिष्ट नाडी-गतिके सम्बन्धमें विभिन्न प्राणियोंकी गतियोंका उदाहरण देते हुए सभी आचार्योंने दोषानुसार विशिष्ट नाडी-गति स्पष्ट करनेका प्रयास किया है। उदाहरणोंसे ज्ञात होता है कि ये विशिष्ट नाडी-गतियाँ कितनी सूक्ष्म अनुभूतिपरक हैं। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि प्रत्येक व्यक्तिकी अनुभूतियाँ एक-सी होते हुए भी उनकी अभिव्यक्त करनेकी शैली भिन्न होती है, अतएव आचार्योंने बाह्य जगत्‌के पशु-पक्षियोंके उदाहरण दिये हैं। जिससे जिज्ञासुको बिना किसी भ्रमके उन गतियोंका स्थायी ज्ञान हो सके और सभीकी समझ एक-सी रहे—

वातोद्रेके गतिं कुर्याज्जलौकासर्पयोरिव।
पित्तोद्रेके तु सा नाडी काकमण्डूकयोर्गतिम्।
हंसस्येव कफोद्रेके गतिं पारावतस्य वा॥

(नाडी-परीक्षा)

वायुके अनुसार नाडीकी गति—वायुके विशेषणोंमें वक्रा या वक्रगतिका—ये दो सर्वाधिक उल्लिखित हैं। वक्रा विशिष्टगति अर्थात् रक्तवाहिनीमें अति वक्र विशिष्ट स्वभावकी गति (लहर)-से है। नाडी-परीक्षा करते समय वैद्य अपनी तीनों अँगुलियोंको एक रेखामें रखे। अँगुलियोंके मध्यमें स्थित केन्द्रक जो सर्वाधिक संज्ञावाही होता है, उसे नाडीके बीचोबीच रखना चाहिये और फिर ध्यानपूर्वक देखे कि नाडी-संवहन एक सीधी रेखामें आ रहा है अथवा कभी दायें, कभी बायें अंदरकी ओर या बाहरकी ओर स्पर्श करता हुआ आ रहा है। जैसे सर्पकी गति होती है, यही वक्रता है। दूसरे प्रकारकी वक्रता स्फुरणकी उच्चताके आधारपर हो सकती है, जैसा कि जलौकाकी गतिमें मिलता है।

पित्तानुसार नाडीकी गति—चपला, चपलगा, तीव्रा आदि विशेषण पित्त-प्रभावसे प्रवृद्ध नाडीकी गति-संख्याको सूचित करते हैं अर्थात् पित्त-प्रकोपके सर्वसामान्य परिवर्तनोंमें प्रति मिनट नाडीकी गति-संख्यामें वृद्धि अवश्यम्भावी है, जब कि स्फुलिङ्ग, काक-मण्डूक आदि जीवोंकी गतिके उदाहरण विशिष्ट स्वभाववाली गतियोंके लिये है। ये सभी जन्तु उछल-उछल कर चलते हैं अर्थात् इनका एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके मध्य अन्तराल रहता है। इस प्रकार पित्तकी नाडी तय करनेके लिये दो प्रमुख आधार बनते हैं—(१) स्पन्दनकी उच्चता और (२) एक स्पन्दनसे दूसरे स्पन्दनके बीचमें निर्मित होनेवाला अन्तराल। इन आधारोंपर कह सकते हैं कि पित्तकी नाडी तीव्रगति, उच्चस्पन्दनयुक्त एवं अन्तरालके साथ उछलती हुई चलती है।

कफके अनुसार नाडीकी गति—स्थिरा, स्तिमितता, स्तब्धा, प्रसन्ना आदि विशेषण कफ-नाडीके संदर्भमें मिलते हैं। स्थिरा तथा स्तब्धासे तात्पर्य नाडीकी गति-संख्याकी कमी तथा नियमितता है। स्तिमितता या चिपचिपापन कफके अतिरिक्त आम, अजीर्ण-जैसी अन्य अवस्थाओंमें भी मिलता है। प्रसन्नासे तात्पर्य यह है कि नाडी पूर्ण और एक-सी गतिसे चलती हुई मिलती है।

विशिष्ट गतियोंके संदर्भमें हंस, कबूतर तथा हाथीकी गतियोंका उदाहरण दिया जाता है। ये सभी आरामसे बिना उतावलेपनके चलते हैं। कफके प्रभावसे भी नाडी बिना अकुलाहटके आरामसे चलती है।

रोगोंके अनुसार नाडीकी गति—रोगोंका ज्ञान होना नाडीकी परीक्षाका प्रमुख उद्देश्य है। विभिन्न नाडी-परीक्षा-सम्बन्धी ग्रन्थोंमें अनेक विशिष्ट रोगोंकी विशिष्ट नाडी-गतियाँ वर्णित हैं। व्यवहारमें भी अनेक वैद्यराज नाडी-परीक्षाद्वारा सटीक रोग-निदान करते हैं।

व्याधि-विशेषमें या व्याधिकी विशिष्ट अवस्थाके अनुसार विशिष्ट नाडी-गतियाँ मिलती हैं। जिज्ञासुजन नाडी-ग्रन्थोंका अध्ययन करके इस संदर्भमें ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

असाध्यतासूचक नाडीकी गति—आयुर्वेदके आचार्योंने व्याधिकी साध्यासाध्यतापर विशेष विचार किया है। रोगका चिकित्साक्रम-निर्धारण एवं परिणाम-ज्ञानके साथ-साथ चिकित्सकके यशकी रक्षा भी प्रमुख उद्देश्य है। असाध्यता एवं अरिष्टसूचक नाडीकी गतियोंका प्रचुर वर्णन नाडी-ग्रन्थोंमें मिलता है।

अनेक प्रकारसे काल-मर्यादाके साथ नाडीकी असाध्यता

शास्त्रमें वर्णित है। यथा—प्रहर, ज्वालावधि, सद्योमारक, सार्धप्रहर, एकरात्रि, अहोरात्र, त्रिदिवस, सप्तरात्रि, पक्ष या मास आदि। इनके पीछे ऋषियोंके अलौकिक ज्ञानकी भूमिका रही है। अनेक वैद्योंकी इस प्रकार कालावधिके साथ मृत्यु-घोषणा करने-हेतु ख्याति रही है। साधारणसे दीखते इन लक्षणोंका संयोग और उन्हें पकड़ लेनेका अभ्यास तथा उत्तम नाडी-ज्ञान ही इस प्रकारकी घोषणा करनेकी शक्ति दे सकता है।

यदि नाडी स्पर्शमें बहुत सूक्ष्म (पतली) हो, भिन्न-भिन्न गतियोंके साथ जल्दी-जल्दी चल रही हो, भारसे दबी हुई-सी चले, स्पर्शमें गीली-सी लगे, बार-बार स्पर्श अलभ्य हो जाय अर्थात् रह-रहकर स्पन्दनरहित होती हो तो उसे असाध्यतासूचक मानना चाहिये—

अतिसूक्ष्मा पृथक् शीघ्रा सवेगाभारिताऽर्द्रिका।
भूत्वाभूत्वा म्रियेतैव तदा विद्यादसाध्यताम्।

(नाडी-परीक्षा)

मृत्युसूचक नाडीकी गति—मणिबन्धसंधिके अपने स्थानसे च्युत नाडी निश्चितरूपसे मृत्युसूचक होती है—

'हन्ति स्थानविच्युता'। (नाडी-परीक्षा)

कुछ आचार्योंके मतसे स्थानच्युत नाडियाँ सद्यः मृत्युसूचक होती हैं अर्थात् शीघ्र ही मृत्यु होगी, यह संकेत देती हैं—

'स्थानच्युतिश्च नाडीनां सद्यो मरणहेतवः'॥

नाडीमें बार-बार कम्पन हो रहा हो, पतले धागेके समान सूक्ष्म स्पन्दन मिल रहा हो तथा अँगुलीको स्पर्श करता स्पन्दन अत्यन्त हल्का (अल्प बल) हो तो निश्चित मृत्युसूचक है।

जब शरीरका ताप अधिक हो एवं नाडी स्पर्शमें ठंडी हो और यदि शरीर ठंडा हो, किंतु नाडी स्पर्शमें उष्ण हो तथा अनेक प्रकारकी गतियोंके साथ चलती हो अर्थात् बार-बार जल्दी-जल्दी गति-परिवर्तन हो रहा हो तो वह भी मृत्युसूचक है—

महातापेऽपि शीतत्वं शीतत्वे तापिता सिरा।
नानाविधिगतिर्यस्य तस्य मृत्युर्न संशयः॥

(नाडी-विज्ञान)

इस प्रकार आयुर्वेदीय साहित्यमें नाडी-परीक्षाके संदर्भमें बहुत विस्तारसे उपयोगी वर्णन प्राप्त होते हैं।

नाडी-विज्ञान

(वैद्य श्रीमदनगोपालजी शर्मा, भिषगाचार्य, पूर्व निदेशक, विभागाध्यक्ष-कायचिकित्सा, मौलिक सिद्धान्त राष्ट्रिय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर)

आयुर्वेद अनादि, शाश्वत एवं आयुका विज्ञान है। इसकी उत्पत्ति सृष्टिकी रचनाके साथ हुई। जिन तत्त्वोंसे सृष्टिकी रचना हुई, उन्हीं तत्त्वोंसे ही इसकी उत्पत्ति हुई। रचना एवं क्रियाका सम्पादन शरीरकी प्राकृत एवं विकृत अवस्थापर सम्भव है। ब्रह्माण्डमें स्थित तत्त्वोंसे पञ्चभूतोंद्वारा सारी सृष्टि प्राणिमात्र—जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम, खनिज-वनस्पति यावन्मात्र समस्त वस्तुजातिकी रचना हुई है।

आयुर्वेदके मूल स्तम्भ पञ्चमहाभूत ही हैं। शरीरमें वात, पित्त एवं कफके भी इन पाँच भेदोंके आधारपर प्रत्येक दोषके पाँच-पाँच भेद किये गये हैं तथा उनके आधारपर शरीरमें स्थान, गुण तथा कर्मका वर्णन कर इनके प्राकृत कर्म बताये हैं, यही प्राकृत कर्म जब सम रहते हैं तो प्राकृतावस्था अर्थात् स्वस्थता रहती है और इनके विकृत हो जानेपर अप्राकृतावस्था अथवा अस्वस्थता हो जाती है। चिकित्सा-सिद्धान्तमें भी पञ्चमहाभूतोंकी प्रधानता होनेसे जो मूलभूत चिकित्सा है, उसमें क्षीण हुए दोष एवं महाभूतोंकी वृद्धि करना और जो बढ़े हुए हैं उनका ह्रास करना तथा समका पालन करना ही चिकित्सा है।

वात

शरीरस्थ वायु-दोषके शरीरके उत्तमाङ्गसे मूलाधारतक क्रमशः पाँच भेद किये हैं, जो इस प्रकार हैं—

प्राण—मूर्धामें। **उदान**—उर-प्रदेशमें। **समान**—कोष्ठमें। **व्यान**—सर्वशरीरमें। **अपान**—मूलाधारमें।

—इनमें महाभूतोंकी अधिकताको यदि लें तो प्राणवायु आकाश महाभूत-प्रधान, उदान अप् महाभूत-प्रधान, समान तैजस महाभूत-प्रधान, व्यान वायु महाभूत-प्रधान तथा अपान पृथ्वी महाभूत-प्रधान हैं।

पित्त

शरीरके उत्तमाङ्गसे अधोभागतक महाभूतोंकी प्रधानतासे पाँच भेद किये गये हैं, जैसे—

आलोचक—नेत्र, तैजस महाभूत-प्रधान।
साधक—हृदय, आकाश महाभूत-प्रधान।
पाचक—कोष्ठ, पृथ्वी तत्त्व-प्रधान।
रंजक—यकृत्, प्लीहा, अप् महाभूत-प्रधान।

भ्राजक—सर्वशरीरगत त्वक् वायु महाभूत-प्रधान।

कफ

इसी प्रकार कफके भी पाँच रूप-भेद हैं—

बोधक—जिह्वामें, तैजस महाभूत-प्रधान।

क्लेदक—आमाशयमें, अप् महाभूत-प्रधान।

अवलम्बक—हृदयमें, पृथ्वी महाभूत-प्रधान।

तर्पक—इन्द्रियोंमें, आकाश महाभूत-प्रधान।

श्लेषक—संधियोंमें, वायु महाभूत-प्रधान।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शरीरमें सबके स्थान नियत हैं और प्रत्येकके कर्म भी शास्त्रमें वर्णित हैं। नाडी-परीक्षणसे पूर्व इनका ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है; क्योंकि नाडी-ज्ञान इनके बिना सम्भव नहीं।

नाडी-ज्ञान-प्रक्रिया

पुरुषके दायें हाथ एवं स्त्रीके बायें हाथके अंगुष्ठ-मूलसे कुछ दूरीपर तर्जनी, मध्यमा, अनामिका अँगुलियोंको क्रमशः रखकर कूर्पर-संधिको आश्रित न रखते हुए ९० डिग्रीके कोणपर चिकित्सक ध्यानस्थ हो हृदयसे आनेवाले स्पन्दनका अनुभव करे। तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिकाके स्पन्दनोंको तरतम-विधिसे ज्ञात करके प्रत्येक अँगुलीके नीचे पाँचों भेदोंको तर्जनीके नीचे पाँचों वायु, मध्यमाके नीचे पाँचों पित्त तथा अनामिकाके नीचे पाँचों कफका ज्ञान प्राप्त करे और उनके स्थान एवं कर्मका ज्ञान होनेपर उनसे होनेवाले कर्मोंके लक्षणवाली व्याधिका होना सुनिश्चित करे। किसी कर्मको प्रश्नके रूपमें पूछनेपर उसकी यथार्थताका ज्ञान करे। दोष-भेदसे भी नाडी-परीक्षा की जाती है। दोषोंके अंशांशकी वृद्धि (भेद-स्वरूप) तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिकाके स्पर्शमें स्पष्ट तरङ्गित होती है।

नाडी एवं नाडी-ज्ञानद्वारा रोगका ज्ञान प्राप्त करना एक असाधारण कार्य है। इसके लिये विपुल समय, ज्ञान एवं विपुल अनुभवकी अपेक्षा है। यहाँ अत्यन्त सूक्ष्म रूपमें दिशा-निर्देश किया गया है।

~~~

बालीमें आयुर्वेद-ग्रन्थके लेखक—श्रीगणेशजी

(श्रीलल्लनप्रसादजी व्यास)

बालीमें मैं उस समय आश्चर्यचकित रह गया जब वहाँके एक ब्राह्मणश्रेष्ठसे, जो केन्द्रीय संसद्में वहाँका प्रतिनिधित्व करते थे, यह पता चला कि इस द्वीपमें ऐसी मान्यता है कि आयुर्वेदीय जड़ी-बूटियोंसे सम्बन्धी ग्रन्थके रचयिता स्वयं श्रीगणेशजी हैं। उन्होंने अपने धार्मिक ग्रन्थोंका उल्लेख करते हुए बताया कि एक बार भगवान् शिव बीमार पड़े तो उन्होंने नवग्रहों या नवदेवोंको बुलाकर अपनी चिकित्सा करनेके लिये कहा, किंतु वे सभी असफल रहे। तब उन्होंने संसारकी सभी जड़ी-बूटियोंको बुलाया और पूछा कि तुम सबमें गुण क्या हैं। सभीने बारी-बारीसे इसका बखान किया। जब यह क्रम चल रहा था तो एक ओर विराजमान श्रीगणेशजी महाराज उसे लिपिबद्ध कर रहे थे, जो अन्तमें एक विशाल ग्रन्थ बन गया, जिसका नाम '**प्रमानतरु**' पड़ा। यहाँके वैद्य यह पुस्तक अपने पास
~~~

रखते हैं। यहाँके वैद्योंको प्राय: ज्योतिषका भी ज्ञान रहता है। इन ब्राह्मणश्रेष्ठने मुझे अपने अनुजसे मिलवाया, जो एक वैद्य थे।

इसके अतिरिक्त चीन, थाईलैंड, तिब्बत आदिमें आयुर्वेद अथवा देशी चिकित्सा-पद्धति बहुत लोकप्रिय है। थाइलैंडमें आयुर्वेदका अच्छा महत्त्व है और कुछ अच्छे वैद्य भी लोकप्रिय हैं। थाईलैंड, कम्बोडिया, मलेशिया, इंडोनेशिया आदिमें चिकित्साकी चीन देशकी पद्धति भी बहुत लोकप्रिय है। इसका कारण बड़ी संख्यामें वहाँ चीनियोंका निवासी होना भी है। मुझे चीन तथा थाईलैंड सिंगापुर, मलेशिया आदिमें यह जानकर बहुत संतोष हुआ कि वहाँ चीन-वैद्योंके माध्यमसे चीनी चिकित्सा-पद्धति बहुत लोकप्रिय है। जिस तरहसे भारतके बड़े शहरोंके साथ छोटे शहरोंमें भी आयुर्वेदिक दवाओंके बिक्री-केन्द्र कम हुए हैं या आयुर्वेदिक औषधियों, जड़ी-बूटियोंकी दुकानें नाममात्रको रह गयी हैं, वहाँ दूसरी ओर इन देशोंमें चीनियोंकी बड़ी-बड़ी दूकानें अनेक सड़कों और मोहल्लोंमें देखी जा सकती हैं। यहाँ बड़ी मात्रामें जड़ी-बूटियाँ, वन-औषधियों और उनसे बनी दवाइयोंकी बिक्री होती है। इसका अर्थ है कि वहाँके लोगोंका एलोपैथीके प्रचार-प्रसारके बावजूद भी देशी चिकित्सा-पद्धतिके प्रति अत्यधिक लगाव बना हुआ है और वे अनेक छोटे-बड़े रोगोंके लिये उनका सेवन करते हैं।

इधरके कुछ वर्षोंमें भारतीय जड़ी-बूटियों और उनसे बनी दवाओंकी लोकप्रियता बढ़ रही है—यहाँतक कि पश्चिमी देशोंकी बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ भी इधर उन्मुख हुई हैं। इसका सबसे बड़ा कारण भारतीय जड़ी-बूटियों और वन-औषधियोंकी कालातीत गुणवत्ता तो है ही साथ ही, एलोपैथीकी तेज दवाओंका जो बुरा प्रभाव मानव-शरीरपर दिखायी पड़ने लगा है, उससे भी उद्विग्न होकर लोग अब सम्पूर्ण आरोग्यकी प्राप्तिके लिये आयुर्वेदीय चिकित्साकी ओर फिरसे मुड़ने लगे हैं। आवश्यकता है आयुर्वेदिक वैद्योंमें अपनी देशी पद्धतिके विषयमें निष्ठा और आस्थाकी तथा साथ ही नित नये अनुसंधानोंकी।

आयुर्वेदका त्रिदोष-सिद्धान्त

(साधु श्रीनवलरामजी रामस्नेही, साहित्यायुर्वेदाचार्य, एम्०ए०)

प्राणी भगवत्प्राप्ति मानव-शरीरसे ही कर सकता है, जिससे दु:खोंका नितान्त अभाव हो जाता है तथा सदाके लिये वह सुखी हो जाता है। मानव-शरीर और सृष्टिकी रचना समान-तत्त्वोंसे हुई है।

सृष्टि-क्रम-प्रयुक्त तत्त्व—इसमें सच्चिदानन्द परमात्मतत्त्व, प्रकृति (जड़), महत्तत्त्व, अहंकार, सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण है।

सत्त्वगुण और रजोगुण तथा अहंकारसे दस इन्द्रियोंकी और मनकी उत्पत्ति हुई। इन्द्रियाँ दस हैं—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण, वाक, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा। इनके साथ मनकी भी उत्पत्ति हुई, इस प्रकार ग्यारह हैं। इन इन्द्रियोंमें पूर्वकी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा बादकी पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।

सत्त्वगुण अहंकार तथा तमोगुण अहंकारसे पाँच तन्मात्राएँ बनती हैं—१-शब्दतन्मात्रा, २-स्पर्शतन्मात्रा, ३-रूपतन्मात्रा, ४-रसतन्मात्रा तथा ५-गन्धतन्मात्रा।

पञ्चतन्मात्राओंसे पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति हुई। पञ्चमहाभूत हैं—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। मानव-शरीर पञ्चमहाभूतोंसे निर्मित है। पाँच तत्त्वों एवं त्रिदोष (वात, पित्त, कफ)-के सम-अवस्थामें रहनेसे ही शरीर स्वस्थ रहता है।

त्रिदोष—

पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥

अर्थात् पित्त पंगु (परतन्त्र) है, कफ पंगु है, मल और धातु भी पंगु हैं। इनको वायु जहाँ ले जाता है, वहीं ये बादलके समान चले जाते हैं। ये वायुके अधीन हैं।

तीनों दोषोंमें वात (वायु) ही बलवान् है, क्योंकि वह शरीरके सभी अवयवोंका विभाग करता है। वह रजोगुण-युक्त है, सूक्ष्म, शीत, रूक्ष, लघु (हल्का) है और चल (गतिशील) है। वह मलाशय, अग्न्याशय, हृदय, कण्ठ [निकटता होनेसे फुफ्फुसतकमें] तथा समस्त

शरीरमें विचरता रहता है। अतएव वायुके पाँच भेद माने जाते हैं और इन स्थानोंमें विचरनेवाले होनेके कारण वायुके क्रमशः पाँच नाम हैं—१-प्राण, २-अपान, ३-समान, ४-उदान और ५-व्यान। यदि ये पाँचों वायु अपनी स्वाभाविक अवस्थामें रहें और अपने-अपने स्थानमें वर्तमान रहें तो अपने-अपने कार्योंको सम्पन्न करते हैं और इन पाँचोंके द्वारा रोगरहित इस शरीरका धारण होता है।

पाँचों प्राणोंके स्थान और कार्य—

१-प्राण—प्राणवायुके स्थान हैं—मस्तक, छाती, कण्ठ, जीभ, मुख, नाक। अपने अवयवोंमें रहकर यह इन्हें अपने कार्योंमें लगाता है। मूर्धामें रहनेवाला वायु मनका नियन्ता तथा प्रणेता है। मनका कार्य-क्षेत्र मस्तिष्क होता है। अत: वहाँ रहनेवाला वात उसपर अपना कार्य करता है। हर्ष और उत्साहका कारण होता है। प्राणवायु मनके ऊपर नियमन करता है और सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने-अपने काममें लगाता हैं—यह कार्य मनका है। यदि प्राणवायु निकल जाय तो शरीर प्राणशून्य हो जाता है। प्राणवायुसे अन्न शरीरमें जाता है। यह वायु प्राणोंको धारण करता है। नाभिसे चलकर हृदयका स्पर्श करते हुए फुफ्फुस (फेफड़े)-में जाकर जो नाभिसे उठकर श्वास मुखमें आता है, उसे प्राणवायु कहते हैं।

२-अपान—दोनों अण्डकोष, मूत्राशय, मूत्रेन्द्रिय, नाभि, ऊरु, वक्षण तथा गुदा—ये अपानवायुके स्थान हैं। आँतमें रहनेवाला अपानवायु शुक्र, मूत्र, मल तथा आर्तव और गर्भको बाहर निकालता है, कुपित हुआ अपानवायु शरीरमें अनेक रोग उत्पन्न करता है। जैसे—आध्मान (अफारा), शूल, मूत्रकृच्छ्र आदि।

३-समान—स्वेद-दोष तथा जल-वहन करनेवाले स्रोतोंमें रहनेवाला तथा जठराग्निके पार्श्वमें इसका स्थान है। यह समानवायु अग्निके बलको बढ़ानेवाला होता है।

४-उदान—उदानवायुका स्थान नाभि, वक्ष:प्रदेश और कण्ठ है। वाणीको निकालना, प्रत्येक कार्यमें यत्न करना, उत्साह बढ़ाना, बल और वर्ण आदिको समुचित रूपमें रखना उदानवायुका कार्य है।

५-व्यान—शीघ्र गमन करनेवाला व्यानवायु मनुष्यके सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त रहता है और इस व्यानवायुका कार्य सर्वदा शरीरमें गति उत्पन्न करना, अङ्गोंको फैलाना, अङ्गोंमें आक्षेपण (खिंचाव)-को उत्पन्न करना, निमेष—पलकोंका खोलना, बंद करना आदि है।

वातके लक्षण (गुण)—

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः सम्प्रशाम्यति॥

वात रूक्ष, शीतल, लघु, सूक्ष्म, चल (चञ्चल), विशद और खर (खुरदरापन)—इन भौतिक गुणोंसे युक्त होता है।

प्राकृतिक वायुके गुणोंके विपरीत—स्निग्ध, उष्ण, गुरु, स्थूल, स्थिर, पिच्छिल (चिपचिपा) और श्लक्ष्ण गुणोंवाले द्रव्योंसे प्रकुपित वायुका शमन होता है। जैसे—घृत-तेल, त्रिकटु (सोंठ, मिर्च, पीपल), पीपलामूल, आँवला, गुग्गुल, सेंधा नमक, मेथी, शिलाजीत, च्यवनप्राश, शतावर, मुलेठी, अष्टवर्ग, मुनक्का, अजवायन, एरंडका तेल आदि।

योगी लोग योग-प्रक्रिया एवं आसन तथा प्राणायामके द्वारा वायुका शमन एवं वात-चिकित्सा करते हैं—

पित्तके गुण, स्थान तथा नाम—

पित्तमुष्णं द्रवं पीतं नीलं सत्त्वगुणोत्तरम्।
कटुतिक्तरसं ज्ञेयं विदग्धं चाम्लतां व्रजेत्॥

पित्त उष्ण (गर्म), द्रव (पतला या तरल), पीला, नीला, सत्त्वगुण प्रधान, चरपरा और कड़ुवा है। पित्त जब विकृत हो जाता है तो खट्टा हो जाता है। पित्त पाँच प्रकारका होता है—१-पाचक, २-भ्राजक, ३-रंजक, ४-आलोचक, ५-साधक।

१-पाचक—अग्न्याशयमें जो पित्त है, वह अग्निरूप है और तिलपरिमित है। यह भोजन पचानेका काम करता है।

२-भ्राजक—त्वचामें जो पित्त है, वह शरीरकी कान्तिका उत्पादक, लेप और अभ्यङ्ग (मालिश)-का पाचक या शोषक है।

३-रंजक—यकृत्‌में जो पित्त है वह वमनमें दिखलायी पड़ता है एवं रसको रक्त बनाता है।

४-आलोचक—जो पित्त दोनों आँखोंमें है, वह रूपका दर्शन कराता है।

५-साधक—जो पित्त हृदयमें रहता है, वह मेधा (बुद्धि) तथा प्रज्ञा (सोचने-विचारनेकी शक्ति)-का हेतु है।

पित्तके विपरीत गुणोंवाले द्रव्योंके प्रयोगसे इसका

शमन होता है। पित्तके विपरीत गुण हैं—पूर्ण स्निग्ध, शीत, मृदु, सान्द्र, स्थिर, मधुर, तिक्त और कषाय ऐसे द्रव्योंसे पित्तका शमन होता है। आँवला, मुलेठी, द्राक्षा, गन्नेका रस, मिस्त्री, अनार, चन्दन, कमल, खस तृण, पित्तपापड़ा, परवल, नागकेशर, जामुन, उशीर, नागरमोथा, धनिया, सुगन्धबाला, शतावर, दूर्वारस, नीम, चिरायता, कुटकी, प्रवाल-पिष्टी, मोती-पिष्टी, चाँदी-भस्म, गो-दुग्ध, गुलाब-पुष्प आदि द्रव्य पित्त-शामक हैं।

कफके गुण, स्थान तथा नाम—

कफः स्निग्धो गुरुः श्वेतः पिच्छिलः शीतलस्तथा।
तमोगुणाधिकः स्वादु विदग्धो लवणो भवेत्॥

कफ स्निग्ध, गुरु, श्वेत, पिच्छिल (चिपचिपा), शीतल, तमोगुणी और मीठा है। जब यह दूषित होता है तो नमकीन हो जाता है। यह पाँच प्रकारका होता है—१-क्लेदन, २-स्नेहन, ३-रसन, ४-अवलम्बन, ५-श्लेष्मक।

कफ आमाशयमें क्लेदन-रूप, सिरके भीतर स्नेहन-रूप, कण्ठमें रसन-रूप तथा हृदयमें अवलम्बन-रूप है। शरीरकी सम्पूर्ण संधियोंमें रहता हुआ यह शरीरमें स्थिरता तथा सामर्थ्य प्रदान करता है। इसका रूप श्लेष्मक है।

कफके विपरीत गुणोंवाले द्रव्योंसे कफका शमन होता है। जैसे लघु, उष्ण, कठिन, रूक्ष, कटु, चल, विशद। यथा सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, पीपलामूल, चित्रक, जीरा, सेंधा नमक, काकड़ासिंगी, पुष्कर मूल, जवासा, हरिद्रा (हल्दी), इलायची, अजवायन, गोजिह्वा आदि द्रव्य।

पञ्चकर्म—स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन तथा वस्ति—इन पाँचोंके द्वारा त्रिदोषोंकी चिकित्सा करनी चाहिये।

द्रव्योंके छः रसों (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय तथा तिक्त)-के द्वारा त्रिदोषोंकी चिकित्सा करनी चाहिये।

उत्पन्न रस	रसोंके उत्पादक महाभूत	शमन होनेवाले दोष	कुपित होने वाले दोष
१-मधुर	जल, पृथ्वी	वात, पित्त	कफ
२-अम्ल	पृथ्वी, अग्नि	वात	पित्त कफ
३-लवण	जल, अग्नि	वात	पित्त कफ
४-कटु	वायु, अग्नि	कफ	पित्त वात
५-कषाय	वायु, पृथ्वी	पित्त कफ	वात
६-तिक्त	वायु, आकाश	पित्त कफ	वात

स्वस्थकी परिभाषा

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

(सुश्रुत सू० १५।४०)

जिस प्राणीके दोष (अर्थात् पाँच प्रकारके वात, पाँच प्रकारके पित्त तथा पाँच प्रकारके कफ) सम हों, अग्नि (जठराग्नि या पाचनशक्ति) सम हो तथा धातु (रसादि सातों धातुएँ), मल (मल, मूत्र तथा स्वेद आदि) तथा क्रिया (सोना, जागना आदि) सम हों, आत्मा, सभी इन्द्रियाँ और मन प्रसन्न हों, वह स्वस्थ कहा जाता है।

मनुष्य स्वस्थ रहनेपर ही चारों पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षकी प्राप्ति कर सकता है।

दोषसाम्यमरोगता

(आचार्य श्रीविष्णुदत्तजी अग्रवाल, प्रिन्सिपल ऋषिकुल स्टेट आयुर्वेदिक कॉलेज, हरद्वार)

जीवन-विज्ञानके रूपमें प्रतिष्ठित आयुर्वेदका सिद्धान्त है—'**रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता**' (अष्टा०सू० १।२०) अर्थात् दोषोंका शरीरमें विषमावस्थामें रहना रोग एवं दोषोंकी साम्यावस्थामें स्थित रहना ही आरोग्य है। जो द्रव्य शरीरको दूषित करते हैं, वे दोष कहे जाते हैं। वात-पित्त तथा कफ—ये शारीरिक दोष हैं। इसी प्रकार मनको दूषित करनेवाले दो मानस दोष हैं—रज एवं तम—

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च॥

(च०सू० १।५७)

शरीररूपी भवनको टिकाये रखनेवाले तीन महास्तम्भोंके रूपमें मानव-देहमें बाल्यावस्थासे वृद्धावस्थापर्यन्त समस्त उपयोगी क्रियाएँ दोषोंके अधीन हैं—'**दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्**' (सु०सू० १५।३)। इस प्रकार दोष और धातु एवं मलमेंसे दोष ही क्रियाशील तत्त्व है।

दोष एवं व्याधिका सम्बन्ध—इन दोषोंका व्याधियोंके साथ कार्यकारण-भावसे सम्बन्ध होता है, रोग कार्य है तथा दोष उसका कारण। जिसमें देहकी स्वाभाविक क्रियाएँ कराने एवं इनपर नियन्त्रण रखनेका सामर्थ्य हो, प्रकृति-निर्माणकी क्षमता हो और जिसमें स्वतन्त्रतापूर्वक देहको दूषित करनेकी प्रवृत्ति हो, उसीको दोष कहा जा सकता है। आरोग्यकी अवस्थामें ये दोष प्राकृत रूपमें या संतुलित अवस्थामें रहते हैं और ये तीनों परस्पर विरोधी गुण रखते हुए भी एक-दूसरेके घातक नहीं होते—

विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्।
दोषाः सहजसात्म्यत्वाद् विषं घोरमहीनिव॥

(च०चि० २६।२९०)

असात्म्य आहार, ऋतुओंमें परिवर्तन, असामान्य आचरण एवं जनपदोद्ध्वंसके कारण दोष कुपित होकर रोगोंको उत्पन्न करते हैं। रोगकी स्थितिमें जो लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, वे दो प्रकारके होते हैं[1]—(१) प्रकृति-समसमवायजन्य एवं (२) विकृति-विषमसमवायजन्य।

प्रकृति-समसमवायकी स्थितिमें रोगोत्पादक दोषके लक्षणोंके तुल्य ही रोगमें लक्षण होते हैं, जैसे वात-व्याधिमें व्यथा, शूल, संकोच, चक्कर आना, कम्पन, मुखवैरस्य, मुखशोष, चञ्चलता आदि। पित्तज व्याधियोंमें उष्णता, दाह, स्वेदाधिक्य, स्राव, लालिमा आदि। कफज व्याधियोंमें शरीरमें भारीपन, श्वेतता (रक्ताल्पता), अजीर्ण, वमन एवं अङ्गोंमें जकड़न आदि लक्षण होते हैं।

विकृति-विषमसमवायकी स्थितिमें रोगोत्पत्ति होना विकृत दोषोंकी संसर्गता धातुओंके साथ होनेका परिणाम है। ऐसी अवस्थामें कुछ लक्षण-दोष एवं धातुओंके सम्मूर्च्छन (जैव रासायनिक संयोग)-के फलस्वरूप होते हैं, जैसे—रोमाञ्च, रोमहर्ष, निद्रानाश, मूर्च्छा, अन्धकार छाना आदि।

महर्षि चरकने रोगोत्पत्ति (च०विमान० अ० ३)-के वर्णनमें यह स्पष्ट किया है कि रोगकी उत्पत्तिका मूल कारण परिग्रह है। संचयकी प्रवृत्तिसे लोभ तत्पश्चात् अभिद्रोहकी उत्पत्ति हुई। अभिद्रोहसे असत्य-भाषण एवं इससे काम, क्रोध, अहंकार, द्वेष, कठोरता, अभिघात, भय, संताप, शोक, चिन्ता, उद्वेग आदिकी प्रवृत्तिके परिणामस्वरूप आहार-विहारके सम्यक् पालनका ह्रास होनेकी प्रवृत्तिसे अग्नि एवं वायुके विकारोंसे ग्रस्त होकर प्राणियोंमें ज्वरादि रोगोंका प्रवेश हुआ और प्राणियोंकी आयुका ह्रास होने लगा।

वात-दोषका प्राधान्य—भारतीय दार्शनिक विचारधाराके अनुसार वायु-तत्त्वको समस्त विश्वकी उत्पत्ति एवं विनाशका मूल हेतु माना गया है।

महर्षि चरकने वायुको जीवन धारण करनेवाला स्वीकार किया है। आकाश महाभूत-प्रधान होनेके कारण इसको सर्वगत एवं स्वयम्भू कहा है। सुश्रुतने वायुको '**सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनम्**' कहकर स्पष्ट किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि तीनों दोषोंमें प्रधान दोष वायु ही है। कफ एवं पित्त-दोष भी वायुकी गतिसे ही गतिशील होते हैं और प्राकृत एवं विकृतावस्थामें शरीर-धारण एवं रोगके कारण होते हैं—

पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥

(शार्ङ्ग० पू० ५।२५)

वात अचिन्त्यवीर्य है अर्थात् इसके द्वारा महाप्राणता उत्पन्न हो जानेपर मनुष्य अलौकिक कार्य सम्पन्न कर सकता है।

विकृत हो जानेपर रोग भी इसके द्वारा सबसे अधिक उत्पन्न होते हैं। प्राकृत वातके प्रभावसे दोष, धातु, अग्नि—इन सबमें सामञ्जस्य बना रहता है। सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंको ठीकसे ग्रहण करती हैं एवं देहमें होनेवाली सभी प्रकारकी गतियाँ एवं क्रियाएँ अनुकूल रूपमें सम्पन्न होती हैं। '**स्वयंभूरेष''''करोत्यकुपितोऽनिलः**' (सु०नि० १।५—१०)

प्राकृत पित्त शरीरमें उष्ण, तीक्ष्ण आदि गुणोंसे युक्त रसरंजन, पाचन, दर्शन, विचारजनन, तेज-उत्पादन, उष्मोत्पत्ति आदि आग्नेय कर्मोंका सम्पादन करता है तथा शौर्य, साहस, अमर्ष, तेज आदि मानस विशेषताओंको जन्म देता है।

प्राकृत श्लेष्मा शरीरमें उपचय या वृद्धिकारक है। शरीरमें प्रत्येक मूर्तिमान् या आकृतियुक्त भावका यह उपादान द्रव्य है एवं उसका संवर्धक है। यह धातु-पुष्टिके साथ-साथ उसे जीवन-तत्त्व भी प्रदान करता है। रससे

---

१. प्रकृतिसमसमवायविकृतिविषमसमवाययोश्चायमर्थः—प्रकृत्या हेतुभूतया समः कारणानुरूपः समवायः कार्यकारणभावसम्बन्धः प्रकृतिसमसमवायः। कारणानुरूपं कार्यमित्यर्थः। विकृत्या हेतुभूतया विषमः कारणाननुरूपः समवायो विकृतिविषमसमवायः। (मा०नि०ज्वर १४ मधुकोष व्याख्या)

शुक्रपर्यन्त प्राय: प्रत्येक देह-धातुका पोषक एवं संवर्धक है, प्रत्येक धातुका मूल जनक—जन्मदाता एवं सारभूत अंश है। इसी अंशको ओज कहा गया है, जो शरीरमें विशेष प्रकारका बल—रोगप्रतिरोधक-क्षमताको जन्म देता है।

दोष एवं क्रिया-काल—क्रिया-कालका अर्थ है चिकित्सा-काल। दोष-वैषम्य एवं रोगोत्पत्तिके मध्य छ: अवस्थाओंका वर्णन आयुर्वेदमनीषी सुश्रुतद्वारा किया गया है। यदि दोष-वैषम्यकी स्थितिको रोगोत्पत्तिसे पूर्व पहचान लिया जाय तो समुचित आहार-विहारसे ही रोगोत्पत्तिसे बचा जा सकता है। इसलिये रोगोत्पत्तिसे पूर्वकी दोष-वैषम्यकी स्थितियोंको ही चिकित्सा-कालके रूपमें स्वीकार किया है। ये छ: क्रियाकाल इस प्रकार हैं—१-संचय, २-प्रकोप, ३-प्रसर, ४-स्थान-संश्रय, ५-व्यक्त और ६-भेद।

१-संचय—दोष-वैषम्यके तीन कारण हैं—(१) असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोग (२) प्रज्ञापराध एवं (३) परिणाम। इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे हीनयोग, अतियोग एवं मिथ्यायोगको असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोग कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियोंका विषयोंसे समावस्थामें संयोग होनेसे रोग उत्पन्न नहीं होते। धी (बुद्धि), धृति (धारण एवं नियमन-शक्ति) एवं स्मृतिके भ्रंश होनेसे मनुष्य जो अशुभ कर्म करता है, उन्हें प्रज्ञापराध कहते हैं एवं ऋतुओंके परिवर्तनके परिणामस्वरूप दोष-वैषम्यको परिणाम कहा जाता है। उपर्युक्त कारणोंसे प्रथमत: दोष अपने स्थानमें संचित होते हैं, जैसे श्रोणि एवं गुदामें वात-संचय एवं आमाशय तथा पक्वाशयके मध्य क्षुद्रान्त्रमें पित्त-संचय और आमाशयमें कफ-संचय होता है। इस अवस्थामें वात-संचयसे स्तब्धपूर्ण कोष्ठता अर्थात् उदरमें भारीपन, अधोवायु एवं उद्‌गारका निग्रह; पित्त-संचयसे मन्दोष्णता तथा पीतावभासता अर्थात् भोजनका पाचन न होना तथा शरीरमें दुर्बलता प्रतीत होना एवं कफ-संचयसे अङ्गोंमें भारीपन, आलस्य तथा विपरीत गुणोंवाले खान-पानके सेवनकी इच्छा होना आदि लक्षण होते हैं। इस स्थितिमें उष्ण जल-सेवन, पाचन एवं लंघन आदि क्रियाओंसे रोगकी अवस्थातक पहुँचनेसे रोका जा सकता है। आगे दोषोंकी गतियाँ बलवान् होनेसे इनका नियमन कठिन होता जाता है—

ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तरा: (सु०सू० २१। ३७)।

२-प्रकोप—प्रकोपकी अवस्थामें दोष अपने स्थानसे बाहर निकलकर अन्य धातुओंको दूषित करते हैं। यह प्रकोप विलपनरूपा-वृद्धि है। इस अवस्थामें वात-प्रकोपसे कोष्ठ-तोद-संचरण अर्थात् उदरमें पीडा तथा उदरका फूलना और पित्त-प्रकोपसे अम्लिका, पिपासा, परिदाह अर्थात् खट्टी डकारें, बार-बार प्यास लगना, सारे शरीरमें जलनकी प्रतीति और कफ-प्रकोपसे अन्न-द्वेष एवं हृदयोत्क्लेद अर्थात् भोजनमें अरुचि एवं वमन होनेकी प्रतीति आदि लक्षण होते हैं। इस अवस्थामें साधारण औषधियों—जैसे हींग, अदरक, अजवायन, आमलकी, नीबू, अनार आदि द्रव्योंके सेवनसे ही रोगोंके आगे बढ़नेकी अवस्थाको रोका जा सकता है।

३-प्रसर—ऋतुओंमें परिवर्तन होनेसे दोषोंका संचय एवं प्रकोप होता है। परंतु अनुकूल ऋतुके अनुसार उक्त दोष स्वत: ही प्रशमकी अवस्थामें आ जाते हैं। दोषोंका संचय, प्रकोप, प्रशम—बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था, दिन-रात्रि एवं भोजनकी अवस्थाओंपर निर्भर करता है। परंतु प्रकोपकी अवस्थामें अनुचित आहार-विहार-सेवनसे दोष प्रसरावस्थाकी ओर चले जाते हैं। प्रसर वायुके द्वारा होता है एवं इसमें दोष अपने स्थानसे अन्य स्रोतोंमें प्रवेश कर जाते हैं। इसमें दोषोंके साथ स्रोतस्-विकारके लक्षण भी दृष्टिगोचर होते हैं। अनुकूल अवस्था न मिलनेपर ये दोष काफी समयतक स्रोतसोंमें पड़े रह सकते हैं एवं स्रोतसोंमें विकारकी अन्य स्थितियाँ मिलनेपर ये रोग उत्पन्न करते हैं। आहार-विहार एवं औषधि-सेवनके उपरान्त क्षीण होनेपर भी ये दोष स्रोतसोंमें काफी समय तक पड़े रह सकते हैं एवं विकृतिके कारण उत्पन्न होनेपर पुन: व्याधि उत्पन्न कर देते हैं।

४-स्थान-संश्रय—दोषोंकी धातुओंमें स्थितिसे दोष-धातु सम्मूर्छन होकर स्थानसंश्रयावस्था उत्पन्न होती है, जो चौथी क्रिया-कालकी अवस्था है। इसमें शारीरिक धातुओंमें जैव रासायनिक परिवर्तन होते हैं एवं शरीरमें एकसे अनेक क्रियाएँ बाधित होने लगती हैं।

५-व्यक्त—व्यक्तावस्था या पञ्चम क्रिया-काल रोगकी अवस्था है। इसमें रोगके लक्षण प्रकट होते हैं। इनकी चिकित्सा उचित निदान-पद्धति अपनानेके पश्चात् ही की जाती है।

६-भेद—अन्तिम क्रिया-काल रोगोंकी उत्तरोत्तर जटिल अवस्था है। इसमें औषधियोंके साथ शल्य-चिकित्सा, पञ्चकर्म-चिकित्सा एवं विशिष्ट चिकित्सा-पद्धतियोंका भी सहारा लेना आवश्यक है।

दोष-साम्य ही आयुर्वेदका उद्देश्य है। महर्षि चरकने ग्रन्थके प्रारम्भमें उद्धृत किया है—**'धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्।'** (सू० १।५३) अर्थात् विषम दोषोंको साम्यावस्थामें लाना एवं उनके द्वारा विकृत धातुओंको समावस्थामें लाना ही आयुर्वेदका प्रयोजन है। दोष-साम्यकी स्थितिको बनाये रखनेके लिये आयुर्वेदने आहार-विहार, दिनचर्या, ऋतुचर्या, सद्वृत्त, योग, आचार-रसायन आदि अनेक विधाओंका वर्णन किया है, जिससे रोगकी रोकथाममें सहायता प्राप्त हो। दोष-वैषम्यकी अवस्थाको समावस्थामें लाने-हेतु ही चिकित्सा-ग्रन्थोंकी रचना की गयी है—

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम्॥

(च०सू० १६।३४)

अर्थात् जिस-किसी क्रियासे विकृतिगत दोषोंकी एवं धातुओंकी समावस्थाको प्राप्त किया जा सके, वे सभी चिकित्सा हैं, केवल औषधि-प्रयोग ही चिकित्सा नहीं है। चिकित्साकी सभी विधाएँ दोष-साम्यकी स्थितिको प्राप्त करनेके लिये ही उपदिष्ट हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार आयुर्वेदका अन्य चिकित्सा-पद्धतियोंसे एवं अन्य पद्धतिमें व्यवहृत औषधियोंसे कोई विरोध नहीं हो सकता। दोष-साम्य ही चिकित्सा-कर्मका मूल उद्देश्य है, जिससे आरोग्यकी प्राप्ति सम्भव है। रोगरहित शरीर ही धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षकी स्थितिको प्राप्त करता है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।

(च०सू० १।१५)

व्याधियाँ सात प्रकारकी होती हैं—(१) आदिबलप्रवृत्त (Genetic), (२) जन्मबलप्रवृत्त (Congenital), (३) दोषबलप्रवृत्त (Disturbance in Homeostatsis), (४) संघातबलप्रवृत्त (Traumatic), (५) कालबलप्रवृत्त (Seasonal), (६) दैवबलप्रवृत्त (Spritual) एवं (७) स्वभावबलप्रवृत्त (Natural)। इनमें रोगी एवं रोग-बलकी परीक्षा करके ही चिकित्साकी विवेचना प्रस्तुत की जाती है। विभिन्न व्याधियोंमें दोष-साम्यकी स्थितिको उत्पन्न करना ही चिकित्साका मुख्य उद्देश्य है। व्याधियोंके उपर्युक्त प्रकारके साथ चिकित्सा-विधियाँ भी तीन प्रकारकी होती हैं—

(१) दैवव्यपाश्रय—इसमें मन्त्र-बलि, मङ्गलकर्म, स्वस्तिवाचन, मणिधारण तथा हवन आदि हैं।

(२) युक्तिव्यपाश्रय—इसमें औषधि, आहार-विहार-सेवन एवं संशोधन या पञ्चकर्म-चिकित्साका समावेश है।

(३) सत्त्वावजय—इसमें अहित अर्थोंकी ओरसे मनोनिग्रहके उपाय हैं। दोष-साम्य ही उक्त चिकित्सा-पद्धतिका एकमात्र उद्देश्य है।

दिनचर्या, ऋतुचर्या आदि दोषपरक ही हैं—

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥

(सु०सू० २१।८)

सूर्य-चन्द्रमा एवं वायुकी गतियोंसे विसर्गकाल एवं आदानकालका विक्षेप होता है। विसर्गकाल (दक्षिणायन)-में तीन ऋतुएँ—वर्षा, शरद् एवं हेमन्त तथा आदानकाल (उत्तरायण)-में तीन ऋतुएँ—शिशिर, वसन्त एवं ग्रीष्म होती हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा, सूर्य एवं वायुकी गति जगत्का धारण, पोषण एवं नियमन करती हैं, उसी प्रकार शरीरमें क्रमशः कफ, पित्त और वायुके द्वारा शरीरका धारण, पोषण एवं नियमन किया जाता है। उक्त गतियोंके आधारपर त्रिदोष-विज्ञानके द्वारा दिनचर्या, रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्याके विभिन्न आयामोंका विवरण आयुर्वेदमें वर्णित है। दिवास्वप्न, रात्रि-जागरण, ऋतुओंमें विपरीत भोजन, शीत वायुका सेवन आदि विभिन्न रोगोंके कारण बताये गये हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण जीवनकालको दोषोंकी गतियोंके परिप्रेक्ष्यमें आयुर्वेदीय दृष्टिकोणसे आहार-विहार एवं चर्याके द्वारा **'दोषसाम्यमरोगता'** के सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है।

मानसिक दोष, साम्यावस्था एवं मोक्ष—रज एवं तम मानस-दोष कहे गये हैं। रज एवं तमके संयोगसे पुरुषकी व्यक्तावस्था एवं सत्त्वगुणके बढ़ जानेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। महर्षि चरकका मत है—

रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्ध्या निवर्तते॥

(च०शा० १।३६)

अव्यक्ताद्व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते॥

(च०शा० १।६८)

इस प्रकार स्पष्ट है कि रज एवं तम गुणके संयोगसे ही चौबीस तत्त्वोंसे युक्त राशि-पुरुषकी उत्पत्ति होती है एवं कर्म-बन्धनमें बँधा हुआ पुरुष चक्रवत् व्यक्तसे अव्यक्त

एवं पुन: व्यक्तावस्थाको प्राप्त होता है। रज एवं तम गुणका मन एवं आत्मासे सम्बन्ध रखना ही उपधा कहा जाता है। इन रज (राग) और तम (द्वेष)-के कारण ही दु:ख और शरीर-धारण अर्थात् पुनर्जन्म होता है। फलत: पुनर्जन्मकी परम्परा होनेसे राग-द्वेष बना रहता है, जिससे दु:खकी उत्पत्ति होती रहती है। यदि रज एवं तमका मनसे सम्बन्ध छूट जाता है तो सभी दु:ख दूर होकर आत्यन्तिक सुख या मोक्षकी प्राप्ति होती है—

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसंक्षयात्।
वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते॥

(च०शा० १।१४२)

मोक्ष-प्राप्ति तथा दु:खोंसे नि:शेष निवृत्तिके उपाय क्या हैं, इसपर चरकने योगके मार्गको स्पष्ट किया है—

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।
मोक्षे निवृत्तिर्नि:शेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः॥

(च०शा० १।१३७)

आत्माका परम तत्त्व या परमात्मासे संयोग ही योग है। वस्तुत: सर्वोत्कृष्ट मानस-स्वास्थ्य ही मोक्ष है। इसकी प्राप्ति-हेतु महर्षि पतञ्जलिद्वारा अष्टाङ्गयोगका वर्णन किया गया है। यह भी माना जाता है कि महर्षि पतञ्जलिद्वारा ही चरकसंहिताकी रचना शारीरिक दोष दूर करने-हेतु एवं योग-विद्याकी रचना मानस दोष-निराकरण-हेतु की गयी। इस प्रकारकी मोक्षदायिनी चिकित्सा-विद्याको चरकने नैष्ठिकी चिकित्साके नामसे निरूपित किया है। उपधारहित चिकित्साको ही नैष्ठिकी चिकित्सा कहा गया है—

'चिकित्सा तु नैष्ठिकी या विनोपधाम्।'

(च०शा० १।९४)

उपधा ही रोगकी एवं दु:खके आश्रयभूत शरीरकी उत्पत्तिमें कारण है अर्थात् जीवनके कर्म-क्षेत्रमें तृष्णा या आसक्तिका होना संयोग या दु:ख है। अनासक्ति तृष्णारहित जीवनका उपभोग मुक्ति है। इस प्रकार आयुर्वेदमें शारीरिक दोषोंकी साम्यताके साथ मानस-दोषोंसे निवृत्तिके उपायोंका वर्णन सम्पूर्ण आरोग्यकी प्राप्तिका लक्ष्यरूप है।

समस्त सृष्टि एवं ब्रह्माण्डमें चेतन-तत्त्व व्याप्त है एवं परम चैतन्यके लीलास्वरूप ही जीव पाञ्चभौतिक शरीर धारण करता है, जो विभिन्न शारीरिक दोषोंकी दृष्टिसे शारीरिक व्याधियों एवं मानस-दोषोंके द्वारा मानसिक व्याधियोंसे आवृत रहता है। सृष्टिके चक्रमें आवेष्टित जीवको मोक्षकी प्राप्ति-हेतु नाना जन्मोंके अनेकानेक रूपोंके अनुभवोंसे गुजरना होता है, जो परम चैतन्यकी महान् लीलाका सूक्ष्म अङ्ग है। मानवका कर्तव्य है कि वह जीवनको हितकर पदार्थोंके सेवन, हितकर आहार-विहार एवं आचार-विचारोंकी ओर ही प्रेरित करे और परमब्रह्मकी सत्ताका स्पन्दन अन्तरात्मामें सदैव अनुभव करता रहे।

जनपदोंके उद्ध्वंस होनेके कारण तथा उनसे बचनेके सूत्र

(आचार्य डॉ० श्रीगौरकृष्णजी गोस्वामी शास्त्री, काव्यपुराण दर्शनतीर्थ, आयुर्वेदशिरोमणि)

जब स्वभावत: शुद्ध वायु, जल, देश तथा काल विकृत हो जाते हैं, तब विभिन्न प्रकृतिके मानवोंका देह, आहार, बल, मन, अवस्था समान होनेपर भी एक साथ एक ही समय एक ही रोगसे नगरों और जनपदोंका देखते-देखते विनाश हो जाता है।

प्रदूषित वायुके लक्षण—ऋतु-विपरीत, अत्यन्त निश्चल, अत्यन्त वेगसे चलनेवाला, अति कर्कश, शीतल, रुक्षतर, भयानक शब्द करनेवाला, कष्टकारी, रेत, धूल और धुआँसे भरे हुए वायुको रोग पैदा करनेवाला जानना चाहिये, इससे जनपदमें आधि—मानसिक पीडा—रोग पैदा होते हैं।

वातमेवंविधमनारोग्यकरं विद्यात्।

(चरक वि० ३।६।१)

प्रदूषित जलके लक्षण—जो जल अत्यन्त विकृत हो गया हो यानी जिसका गन्ध और रंग बिगड़ गया हो — स्पर्श करने योग्य न रह गया हो, उसका जलीय गुण नष्ट हो गया हो, पीनेके योग्य न हो, जिन जलाशयोंका जल सूख करके कम रह गया हो, पक्षी अन्यत्र चले गये हों, ऐसे जलको विकृत समझना चाहिये; इसके सेवनसे जनपद ध्वंस हो जाते हैं।

प्रदूषित देशके लक्षण—जिस देश या स्थानके वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श विकृत हो गये हों, जिस स्थानसे सड़ाँध आती हो तथा साँप आदि हिंसक जन्तु और मच्छर, मक्खी, चूहा, गिद्ध आदि पक्षियोंकी प्रचुरता हो और गीदड़ आदि जन्तुओंसे युक्त जहाँ लताएँ बहुत हों, जहाँका वायु धुआँसे

युक्त हो तथा जहाँ कुत्ते रोते हों, पक्षी विशेषकर उड़ते हों, जहाँ मनुष्योंमें धर्म, सत्य, लज्जा, आचार, शील आदि गुणोंका अभाव हो, जहाँ सरोवर सूख गये हों, जहाँ बिजली, भूकम्प, भूस्खलनकी अधिकता हो, जहाँ सूर्य-चन्द्रमाकी आकृति मलिन हो गयी हो, जहाँ मनुष्य रोते हुए दिखायी दें, जहाँ अन्धकारकी विशेषता हो ऐसा देश दूषित समझना चाहिये। इससे जपनदमें प्रदूषण उत्पन्न हो जाता है।

प्रदूषित कालके लक्षण—ऋतुके लक्षणोंके विपरीत काल हो—ग्रीष्म-ऋतुमें शीत और शीत-ऋतुमें ग्रीष्मका अनुभव हो अथवा अधिक ग्रीष्म अर्थात् जहाँ मनुष्य जला-सा जाता हो। इसी प्रकार अन्य ऋतुओंमें भी विपरीतता आ जाती हो—यह दूषित कालका लक्षण है, इससे जनपदमें संत्रस्तता आ जाती है।

विकृत वायु, जल, देश और कालमें काल-तत्त्व प्रमुख है। यद्यपि वायुके अनारोग्य होनेके लक्षणोंके कारण यह दुष्परिहार्य है तथापि वातहीन स्थानपर रहा जाय तो इससे बचा जा सकता है। जीवन-धारणके लिये जल आवश्यक है। परंतु दूषित जलकी शुद्धि यन्त्रोंद्वारा सम्भव है। देश-त्याग करके जाना बहुत कठिन है, परंतु प्राणकी रक्षाके लिये अन्यत्र जाना पड़ता है। पर काल सर्वप्रमुख होनेके कारण दुष्परिहार्य होनेपर भी गुणप्रद औषधियोंके प्रयोगसे आरोग्यप्रद चिकित्सा की जा सकती है। किंतु जिन मानवोंका पूर्वकृत कर्म और दैव विपरीत है, उन्हें काल-व्यालके आक्रमणसे बचाया नहीं जा सकता।

वायु आदिकी विगुणताका मुख्य कारण अधर्म है। पूर्वकृत गर्हित कर्म तथा अधर्मका उद्भव प्रज्ञापराध है। जिस प्रकार नगर या जनपदका प्रधान अधिकारी जब धर्मकी उपेक्षा करके अधर्मका आश्रय लेता है, तब स्वाभाविक रूपसे उसके अनुगत जन भी इस अधर्मको बढ़ानेमें कृतसंकल्प होते हैं। प्रवञ्चना, असत्य आदिकी प्रबलता बढ़ जाती है और यह प्रबलता बढ़कर धर्मको आच्छादित कर देती है। जब धर्म लुप्त हो जाता है तब देवता भी उन अधार्मिक पुरुषोंका परित्याग कर देते हैं। धर्मके लुप्त होनेपर अधर्मकी वृद्धि होती है। जब दैवी गुणोंसे परित्यक्त उन देश और जनपदोंकी ऋतुमें विकृति आ जाती है, प्रचुर वर्षा नहीं होती अथवा वर्षाका अभाव एवं विकृत वर्षा होती है, वायु उचित रूपसे प्रवाहित नहीं होता, पृथ्वी विकृत हो जाती है, जल सूखकर विकृत हो जाता है, औषधियाँ अपने स्वभावगत गुणोंको छोड़कर विकृत हो जाती हैं, तब उनके स्पर्श तथा सेवनसे नगर एवं जनपदोंका विनाश हो जाता है। उसी प्रकार शस्त्रजात युद्धोंसे भीषण नरसंहार होता है। मानवोंमें लोभ, क्रोध, मोह, अहंकार विशेषरूपसे परिलक्षित होता है। अल्पसैन्यशक्तिसम्पन्न परमाणुविहीन राष्ट्रोंपर प्रबल सैन्यशक्तिसम्पन्न राष्ट्र आक्रमण करके उन्हें परास्त करनेमें लग जाते हैं। इससे भी विनाश हो जाता है। इसका भी मूल कारण अधर्म है। अधर्मके आचरणसे देवता भी भूत आदिजन्य उपायोंसे मानवोंको नष्ट करते हैं। अभिशाप (अस्वच्छता)- से उत्पन्न होनेवाले जनपदोंके उद्ध्वंसका भी कारण अधर्म है। जो धर्मसे रहित हैं वे जब गुरु, वृद्ध, सिद्ध, आचार्य—इनकी अवज्ञा करके अहित कर्म करते हैं, तब वे अपमानित गुरुजन उन पुरुषोंके कुलके नाशके लिये उन्हें शाप देते हैं, जिसके द्वारा वे शीघ्र ही विनष्ट हो जाते हैं। यह भी जनपदके उद्ध्वंसका एक कारण है। इस जनपदोद्ध्वंसके आक्रमणसे बचनेके लिये सदाचरण ही प्रशस्त औषधि है। आचार्य चरकका कहना है—

सत्यं भूते दया दानं वलयो देवतार्चनम्।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः॥
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्॥
संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतैः॥
इत्येतद्भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम्।

(चरक० विमान० ३। १५—१८)

तात्पर्य यह कि सत्य बोलना तथा मन-वचन-कर्मसे प्राणियोंपर दया करना, उचित पात्रको दान देना, देवताकी पूजा करना, नैवेद्य निवेदन करना, शास्त्रानुकूल उनको चढ़ावा चढ़ाना, सत्पुरुषोंके आचारका अनुपालन, अपनी रक्षा तथा कल्याणकारक जनपदों—बस्तियोंका सेवन हितकर है। निरन्तर ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये, ब्रह्मचारियोंका संग करना चाहिये। धर्मशास्त्रोंकी कथा तथा जितेन्द्रिय महर्षियोंके साथ वार्तालाप, वृद्ध पुरुषोंद्वारा प्रशंसित धार्मिक एवं सात्त्विक पुरुषोंके साथ बैठना लाभकर है। ऋषियोंने प्राणियोंके उस दारुण कालसे बचने-हेतु उनकी आयुका परिपालन करनेवाले ये आरोग्यप्रद भेषज-सूत्र प्रतिपादित किये हैं।

आयुर्वेदमें शल्य एवं शालाक्य-चिकित्सा तथा यन्त्र-विवरण

(डॉ० श्रीकमलप्रकाशजी अग्रवाल)

आयुर्वेदकी रचना मानवकी उत्पत्तिसे पूर्व हो चुकी थी। सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीने 'ब्रह्मसंहिता' नामक एक त्रिसूत्रीय आयुर्वेदिक ग्रन्थकी रचना की। यह ग्रन्थ सहस्राध्यायी तथा एक लाख श्लोकोंसे युक्त था। कालान्तरमें जीवोंके अल्पायु तथा अल्पमेधावीपनको देखते हुए इस बृहत्-संहिताको स्वल्प आकार देते हुए आठ अङ्गोंमें विभक्त कर उन्होंने आयुर्वेदकी शिक्षा अपने शिष्य महेश्वर, भास्कर और प्रजापति दक्ष आदिको दी। प्रजापति दक्षने अश्विनीकुमारद्वयको तथा अश्विनीकुमारोंने इन्द्रको इस आयुर्वेदकी शिक्षा दी। यह वैद्योंकी देव-परम्परा थी।

तदनन्तर महर्षियोंद्वारा निवेदित किये जानेपर महर्षि भरद्वाज इन्द्रलोकमें गये और वे देवराज इन्द्रसे आयुर्वेदका ज्ञान प्राप्त कर पुन: भारतभूमिपर पधारे एवं हिमवान् पर्वतपर उन्होंने सभी महर्षियोंको आयुर्वेदका ज्ञान दिया। यह सब कार्य प्रजाजनोंको दु:खी जानकर तथा समस्त प्राणियोंके प्रति दया-भाव रखकर उनके हितके लिये किया गया। महर्षि भरद्वाजने आयुर्वेदके आठों अङ्गोंका ज्ञान सभी उपस्थित महर्षियोंको दिया, उनमें शल्य तथा शालाक्य-तन्त्र भी शामिल थे। ज्ञान-प्राप्त उन महर्षियोंने स्थान-स्थानपर जाकर आयुर्वेदद्वारा प्राणियोंकी सेवा की।

आयुर्वेदके आठ विभाग इस प्रकार हैं[1]—

१-शल्य—इसमें शल्य-चिकित्सा (सर्जरी) और प्रसूतिकर्मका वर्णन है।

२-शालाक्य—इसमें जत्रु (ग्रीवामूल)-से ऊपरके अङ्गों जैसे—नाक, कान, आँख, गला आदिके रोगोंका अध्ययन किया जाता है।

३-काय-चिकित्सा—इसमें शरीरके रोगोंकी चिकित्साका वर्णन है।

४-भूतविद्या—इसमें शान्तिकर्मके द्वारा रोगोंकी चिकित्सा बतलायी गयी है।

५-कौमारभृत्य—इसमें शिशु-चिकित्साका वर्णन है।

६-अगदतन्त्र—इसमें विष-चिकित्साका वर्णन है।

७-रसायनतन्त्र—इसमें अवस्था, आयुष्य, मेधा और बलको बढ़ानेवाले पौष्टिक रसायनोंका वर्णन है।

८-वाजीकरणतन्त्र—इसमें वीर्यवर्धक औषधियोंका वर्णन है।

आचार्य चरकके अनुसार आयुर्वेदका अध्ययन-स्थल आठ भागोंमें 'स्थान' नामसे इस प्रकार किया गया है—सूत्र, निदान, विमान, शारीर, इन्द्रिय, चिकित्सित, कल्प और सिद्धि। इनका परिचय क्रमश: निम्न है—

१-सूत्रस्थान—इसमें चिकित्सा, पथ्य और वैद्यके कर्तव्योंका वर्णन है।

२-निदानस्थान—इसमें मुख्य रोगोंका वर्णन है।

३-विमानस्थान—इसमें दोष आदिके मानका ज्ञान, आयुर्वेदीय विवेचन और आयुर्वेदके अध्येताके कर्तव्योंका उल्लेख है।

४-शारीरस्थान—इसमें शल्य-चिकित्सा और गर्भ-विज्ञानका वर्णन है।

५-इन्द्रियस्थान—इसमें अरिष्टजन्य रोगोंके निदानोंका वर्णन है।

६-चिकित्सितस्थान—इसमें मुख्य चिकित्साओंका वर्णन है।

७-कल्पस्थान—इसमें शरीरके पुनर्निर्माण एवं शरीरको किशोर-जैसा सुन्दर एवं आरोग्यमय बनानेका वर्णन है।

८-सिद्धिस्थान—इसमें वमन, विरेचन आदि पञ्चकर्मो-द्वारा सामान्य चिकित्साका वर्णन है।

सुश्रुतसंहिताके लेखक सुश्रुत हैं। यह आयुर्वेदका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें चिकित्सापर बल दिया गया है और शल्यके औजारोंका वर्णन है। सर्प-चिकित्सा और त्रिदोष-चिकित्सा-सिद्धान्तसे सिद्ध होता है कि आयुर्वेदने किसीका अनुकरण नहीं किया, बल्कि आयुर्वेदका अनुकरण यूनानी चिकित्सा-पद्धतिमें किया गया है। आयुर्वेद-पद्धतिका अनुकरण अरब तथा फारस-निवासियोंके द्वारा यूनानी चिकित्सा-पद्धतिमें किया गया है।

रत्न-विज्ञान और ज्योतिष, हस्तरेखा, तन्त्रशास्त्र तथा कामशास्त्र भी आयुर्वेदके अङ्ग हैं। आयुर्वेदमें वृक्षों और

१-सुश्रुत सू० १।७

पशु-चिकित्सापर भी ग्रन्थ हैं।

महाराज दिवोदास धन्वन्तरिने भी आयुर्वेदका ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने शल्य-शालाक्य (Surgery)-में विशेष योग्यता प्राप्त करके इस ज्ञानका प्रचार चिकित्सक महर्षियोंमें किया। परिणाम यह हुआ कि आधुनिक युगकी तरह काय-चिकित्सकों तथा शल्य-चिकित्सकोंके दो समुदाय आयुर्वेदमें कार्य करने लगे। कालान्तरमें शल्य-चिकित्सकोंके भी दो भाग हो गये—१-शल्य-चिकित्सक धान्वन्तरीय तथा २-शालाक्य-चिकित्सक या ऊर्ध्वाङ्ग-चिकित्सक। शालाक्य-चिकित्सकोंका कार्य-क्षेत्र नेत्र, कर्ण, नासिका, दन्त, मुख, तालु, ओष्ठ, गल-चिकित्सा एवं कपाल तथा मस्तिष्क-चिकित्सा आदि था।

शालाक्य-चिकित्साके स्रोत देवराज इन्द्र ही थे और पृथ्वीपर भरद्वाज एवं धन्वन्तरि थे। कांकायन, विदेह, निमि, गार्ग्य, गालव, भद्र, शौनक, कृष्णात्रेय, कराल, सात्यकि आदिने इस परम्पराको आगे बढ़ाया। सभी महर्षियोंने इस विषयपर अपने-अपने तन्त्र-ग्रन्थ लिखे। वे मूल रूपसे आज उपलब्ध नहीं हैं। उन तन्त्र-ग्रन्थोंके नाम हैं—१-विदेह-तन्त्र, २-कांकायन-तन्त्र, ३-निमि-तन्त्र, ४-गार्ग्य-तन्त्र, ५-गालव-तन्त्र, ६-सात्यकि-तन्त्र, ७-शौनक-तन्त्र, ८-कराल-तन्त्र, ९-चाक्षुष्य-तन्त्र और १०-कृष्णात्रेय-तन्त्र।

इन तन्त्र-ग्रन्थोंमें जत्रुसे ऊपर (ऊर्ध्व-जत्रु)-के रोगोंका वर्णन विशेषरूपसे किया गया है। ऊर्ध्व-जत्रुसे तात्पर्य है धड़के ऊपरका रोग अर्थात् कण्ठ और वक्ष:स्थलका संयोग-स्थल। इसे जत्रु कहा गया है।

शालाक्य-तन्त्रका वर्णन आजके उपलब्ध ग्रन्थोंमें संक्षिप्त रूपसे चरक तथा कुछ विस्तारसे सुश्रुतमें पाया जाता है। सुश्रुतके उत्तर-तन्त्रमें अध्याय १—१९ तक नेत्र-रोगोंका, २०-२१वें अध्यायोंमें कर्ण-रोगोंका, २२—२४ वें अध्यायोंमें नासा-रोगोंका, २५-२६वें अध्यायोंमें शिरोरोगोंका वर्णन तथा चिकित्साका वर्णन है, इसी प्रकार चिकित्सास्थानके अध्याय २२ में तथा निदानस्थानके १६ एवं चरक-चिकित्सास्थानके २६वें अध्याय में ऊर्ध्वाङ्ग-रोगोंके निदान तथा उनकी चिकित्साका विवरण उपलब्ध है।

शलाका-यन्त्रोंका संक्षिप्त परिचय

शालाक्य-तन्त्रका मुख्य प्रयोजन है शलाका-यन्त्रका प्रयोग। आचार्य सुश्रुत तथा वाग्भट (अष्टाङ्ग-संग्रहकार)—ये दोनों इन यन्त्रोंके प्रयोगसे पूर्ण परिचित थे। महर्षि वाग्भटके अनुसार शलाका-यन्त्र नाना प्रकारकी आकृतिवाले होते हैं और अनेक कार्योंमें प्रयुक्त होते हैं। ये यथायोग्य लम्बे तथा मोटे होते हैं।

आचार्य सुश्रुतने शल्य-चिकित्सा (सर्जरी)-के लिये जिन यन्त्रों—औजारोंका विधान बतलाया, वे इतने अधिक किस्मोंके थे कि आज भी समस्त विश्वके शल्य-चिकित्सक एवं विद्वान् जानकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं। प्राचीनतम शल्य-चिकित्सक विभिन्न प्रकारकी शल्य-चिकित्साके लिये सवा सौसे भी अधिक किस्मके औजारोंका प्रयोग करते थे, जिनमें भाँति-भाँतिकी कैंची, चाकू, आरी, सूई, ट्यूब, सिरिंज, जमूर, स्पेकुला, लीवर, हुक, सलाई, जलोदर-रोगमें शरीरसे पानी निकालनेवाला यन्त्र तथा शलाका आदि मुख्य थे। यन्त्रोंके मुख कंक, सिंह, उलूक तथा काक आदि पशु-पक्षियोंके मुखके सदृश बनते थे और तदनुसार नाम भी होता था, जैसे—कंकमुख, सिंहास्य, काकमुख आदि। इनमेंसे कुछ-एक औजार आजके शल्य-चिकित्सा-औजारोंके आधार बने।

मनुष्यके सिरके आधे बालाग्रके बराबर पतली धारवाले '**वृद्धिपत्र**' नामक यन्त्रसे रसौली (भौंहोंके पास आँखके ऊपर होनेवाली गिल्टी) निकाली जाती थी। **मंडलाग्र**से घावोंको साफ किया जाता था। नाडी-यन्त्रसे दवाएँ शरीरके अंदर पहुँचायी जाती थीं। **त्रिकुरचक्रम**से ऊतकोंको चीरकर उनमेंसे अवाञ्छित पदार्थ निकाले जाते थे। **संदंश**से मांसमें चुभे काँटे आदि निकाले जाते थे। **तालयन्त्र**से नाक, कानकी सफाई की जाती थी। दन्त-शङ्कुसे दाँत निकाले जाते थे। **कारपत्रम**से हड्डियाँ काटी जाती थीं। **ऐशानी**से शरीरमें 'पस' का पता लगाया जाता था। **मुद्रिका-शस्त्र** अँगूठीके आकारका एक विशेष प्रकारका चाकू था तथा **उत्तरावास्त्री**से नारी एवं पुरुषोंके शरीरमें एकत्र पेशाब बाहर निकाला जाता था। केवल जमूरे ही २४ किस्मके बताये गये हैं।

सुश्रुतने इन उपकरणोंको धारदार तथा भोथरी (कुंद-धारवाले) दो श्रेणियोंमें विभाजित कर रखा था और इनके आकार-प्रकार, स्वरूप, उपयोगिता, इन्हें पानी चढ़ाने, रोगाणुरहित करने तथा प्रयोगमें लानेकी विधियों एवं इनकी

सँभालके सम्बन्धमें पूर्ण योजनाबद्ध अध्ययन किया था। भोथरी-श्रेणीमें १०६ किस्मके शल्य-चिकित्सा-उपकरण थे। लोहेसे निर्मित उपकरण योग्य लोहारोंद्वारा चिकित्सकोंके निर्देशनमें बनाये जाते थे। इनका नाम उन जानवरों तथा पत्तों आदिके नामपर रखा जाता था, जिनसे मिलती-जुलती इनकी शक्ल होती थी। आचार्य सुश्रुतने आकृति-भेदसे छः प्रकारके यन्त्रभेद बताये हैं—१-स्वस्तिकयन्त्र, २-संदंशयन्त्र, ३-तालयन्त्र, ४-नाडीयन्त्र, ५-शलाकायन्त्र, ६-उपयन्त्र[1]। इन सभीके भेदोपभेद भी बताये हैं।

प्रमुख शालाक्य-यन्त्रोंका परिचय

१-गंडुपद-मुख शलाका-यन्त्र—यह दो प्रकारका होता है। इसका मुख केंचुएके समान होता है। यह नाडी-व्रणकी गतिके एषण (ढूँढ़ने)-के लिये प्रयुक्त होता है।

२-मसूरदल-मुख शलाका-यन्त्र—यह भी दो प्रकारका होता है। इसके द्वारा नासादि श्रोत्रगत शल्य निकाला जाता है। इसकी लम्बाई आठसे नौ अंगुलतक होती है। इसका मुख मसूरकी दाल या पत्रके सदृश होता है, अग्रभाग कुछ झुका-सा रहता है।

३-शंकुशलाका-यन्त्र—यह छः प्रकारका होता है। इसमें दो यन्त्र सर्पफणाकार होते हैं। इसका प्रयोग व्यूहन-कर्म (कटे हुए मांस, सिरा आदिको यथास्थान स्थापित करने)-में होता है। यह बारह और सोलह अंगुलतक लम्बा होता है।

४-शरपुंख-मुख शलाका-यन्त्र—यह दो प्रकारका होता है। इसका प्रयोग शल्यको चलाने तथा हिलानेमें होता है। इसकी लम्बाई दस अंगुलसे बारह अंगुल होती है। इसका मुख शरपुंखाके समान होता है।

५-वडिशमुख-यन्त्र—यह दो प्रकारका होता है। इसका प्रयोग शरीरके किसी अवयवांशको खींचनेमें होता है। इसकी लम्बाई दससे बारह अंगुल होती है।

६-गर्भांकुश-शलाका-यन्त्र—यह एक ही आकारका शंकु-जैसा होता है। यह आठ अंगुल लम्बा, परंतु कुछ झुका हुआ होता है। यह मूढ-गर्भ खींचनेके काममें आता है।

७-सर्पफण-शलाका-यन्त्र—यह एक ही आकृतिका सर्पके फणकी तरह होता है। इसका प्रयोग अश्मरीको खींचनेमें किया जाता है।

८-दन्तनिर्घातन-यन्त्र—यह एक प्रकारका आठ अंगुल लम्बा होता है और दाँत निकालनेके काममें आता है।

९-प्रमार्जनी शलाका-यन्त्र—यह छः प्रकारका होता है जैसे—

(क) इस प्रमार्जनी शलाका-यन्त्रके अग्रभागपर प्रमार्जनके समय रूई लपेट ली जाती है। इसका प्रयोग अनेक प्रकारके व्रणोंका क्लेद साफ करनेके लिये तथा अर्श आदिपर लगाया गया क्षार साफ करनेके लिये किया जाता है। इसमें दो घ्राण शलाकाएँ होती हैं, जो छःसे सात अंगुल लम्बी होती हैं। यह नासापुटोंको साफ करनेके लिये प्रयुक्त होती है।

(ख) कर्ण-शलाका-यन्त्र—यह दो प्रकारका होता है। यह आठसे नौ अंगुलतक लंबा होता है और कान साफ करनेके काममें आता है।

(ग) वायु-शलाका-यन्त्र—यह दो प्रकारका होता है। यह दससे बारह अंगुल लम्बा होता है। इससे गुदा-नाडियोंका व्रण साफ किया जाता है। इसीके द्वारा भग-व्रण भी साफ होता है। मूत्र-मार्गको साफ करनेके लिये भी अलग यन्त्र होते हैं।

(घ) कर्ण-शोधन-यन्त्र—अग्रभागसे यह चम्मच-सा होता है तथा पीछे शलाका होती है।

(ङ) अञ्जनार्थ-शलाका-यन्त्र—यह शलाका रोगानुसार विभिन्न धातुओंकी होती है और नेत्रमें अञ्जन लगानेके काममें आती है।

(च) अन्य शलाका-यन्त्र—क्षारकर्म, अग्निकर्म आदिके लिये अन्यान्य शलाकाएँ होती हैं, जो विभिन्न आकारकी छोटी, मोटी एवं पतली होती हैं। तन्त्र-वृद्धिमें प्रयुक्त होनेवाली शलाका अर्धचन्द्राकार (चतुर्थी) होती है।

उपर्युक्त सभी यन्त्रोंका ज्ञान आचार्य चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट आदिने आजसे हजारों-हजार वर्ष पूर्व करा दिया था।

विडम्बना है कि आज आयुर्वेदीय शल्य-शालाक्य-तन्त्रका ज्ञान उस प्रकार रह नहीं गया है जैसा पहले था, परंतु इसकी महत्ता तो आज भी वैसी ही है।

१-तानि षट् प्रकाराणि तद्यथा—स्वस्तिकयन्त्राणि, संदंशयन्त्राणि,तालयन्त्राणि, नाडीयन्त्राणि, शलाकायन्त्राणि, उपयन्त्राणि चेति। (सुश्रुत० सूत्र० ७।५)

आयुर्वेद और होम्योपैथी—एक विवेचन

(श्रीरामगोपालजी पालड़ीवाल)

प्राचीन कालसे ज्ञान-विज्ञानके सभी क्षेत्रोंमें भारतीय मनीषाका अवदान सर्वोत्कृष्ट रहा है। व्याधिग्रस्त प्राणियोंके पीडा-निवारण-हेतु आर्यमनीषाने सर्वाङ्गपूर्ण चिकित्साशास्त्र 'आयुर्वेदका' सृजन किया। इसमें मनुष्य तथा मनुष्येतर प्राणियोंकी व्याधि दूर करनेके लिये उत्तमोत्तम दिशा-निर्देश दिये गये हैं। जिनपर रीझकर वैज्ञानिक चिकित्सा-पद्धति एलोपैथीके पुरोधा भी इसकी उपयोगिताको स्वीकार कर रहे हैं।

अधुना बहु प्रचलित होम्योपैथीके मूल सिद्धान्त भी हमें आयुर्वेदके प्राचीन ग्रन्थोंमें प्राप्त होते हैं। जैसे—ओषधि-निर्माणके लिये आयुर्वेद कहता है—'**मर्दनं गुणवर्धनम्**'। होम्योपैथी इसी सिद्धान्तके बलपर अपनी ओषधियोंको शक्तिकृत करके चमत्कार दिखाती है।

भारतीय रसायनशास्त्री 'नागार्जुन' जिन्होंने हीन धातुओंको सुवर्ण, रजत, महारजत-जैसी मूल्यवान् धातुओंमें परिणत करनेका चमत्कार हजारों वर्ष पहले करके दिखा दिया था, उनका सिद्धान्त वाक्य है—'**स्वल्पमात्रं बहुगुणसम्पन्नं योग्यभेषजम्**'। अर्थात् रोग-निवारणके लिये दवाका चुनाव यदि सही हुआ हो तो दवाकी मात्रा बहुत अर्थ नहीं रखती। यही बात तो होम्योपैथीमें होती है। दवाका नम्बर जितना ऊँचा होता जाता है, उसका प्रभाव तो बढ़ता जाता है पर उसमें मूल दवाकी मात्रा उतनी ही सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होती जाती है। फिर भी दवाका चमत्कार प्रत्यक्ष देखा जाता है। इससे यह धारणा स्वाभाविक ही हो जाती है कि आरोग्यता प्रदान करनेवाली प्रकृति-प्रदत्त कोई अन्य शक्ति है, जिसको जीवनी-शक्ति या रोग-प्रतिषेधक शक्ति (Immunity) कहा जाता है। दवाका कार्य केवल उस शक्तिको प्रबुद्ध करके सही दिशा प्रदान करनामात्र है, शेष सारा कार्य प्रकृति स्वयं करती है। दुश्चिकित्स्य अथवा असाध्य माने जानेवाले कैंसर-रोगकी ओषधि खोजनेवाले विद्वानोंकी भी अनेक प्रयोग-परीक्षणोंके बाद यही धारणा बनी है कि शरीरमें प्रकृति-प्रदत्त रोग-निवारणकी शक्तिको परिपुष्ट कर दिया जाय तो रोग स्वयं निवृत्त हो जाता है। आयुर्वेदमें भी एक-एक औषध योगमें पचासों घटक द्रव्य होते हैं और दवाकी मात्रा एक रत्ती, आधी रत्तीकी दी जाती है। अब सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उस अल्प-सी मात्रामें पचासों ओषधियोंकी मात्राका अनुपात क्या होता है? इससे अवगत होता है कि मनीषी नागार्जुनका दिया हुआ सिद्धान्त कितना सार्थक है।

इस संदर्भमें यह विचारणीय हो जाता है कि जब साधारण समझी जानेवाली वनौषधियों तथा अन्य वस्तुओंको सूक्ष्मतम मात्रामें प्रयोगकर एक होम्योपैथ रोग-निवारणका चमत्कार दिखाता है तो आयुर्वेदके अत्यन्त वीर्यवान् सिद्ध औषधोंका सूक्ष्मतममात्रामें प्रयोग करके स्वल्प व्ययमें ही आर्तनारायणको रोगमुक्त करनेका शास्त्रसम्मत प्रयास युक्तिसंगत ही तो समझा जायगा।

अपने सीमित दायरेमें इस प्रयासका सुफल प्राप्त हो रहा है। त्रिदोषोंपर अधिकार रखनेवाली 'वज्र-भस्म' आयुर्वेदकी सर्वाधिक मूल्यवान् ओषधि है। इसमें शरीरके जीर्ण-अक्षम कोषों (Cells)-को नष्टकर नये कोषोंकी वृद्धि करनेकी अपूर्व शक्ति है। अपने इस गुणके कारण वर्तमानमें महामारीका रूप लेनेवाले कैंसर तथा एड्स (AIDS) नामसे प्रसिद्ध असाध्य रोगोंपर भी इसका आरोग्यजनक प्रभाव परिलक्षित हुआ है। अवश्य ही इसके साथ-साथ पथ्य-परहेज तथा सहायक अन्य औषधोंका प्रयोग भी होना चाहिये।

इसके द्वारा शरीरके भीतर-बाहर अनेक स्थानोंपर होनेवाले अर्बुद, रक्त-कैंसर, एलर्जी आदि रोगोंमें भी बहुत उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त हुए हैं। आयुर्वेदके उत्साही चिकित्सकोंके सामने प्रयोग-परीक्षणका एक सर्वथा नवीन एवं विस्तृत क्षेत्र खुला पड़ा है। इसका लाभ उठाना चाहिये।

आयुर्वेदमें दिव्य औषधियाँ

(पद्मश्री वैद्य श्रीसुरेशजी चतुर्वेदी, आयुर्वेदाचार्य)

भारत ही नहीं, अपितु समस्त विश्वमें रोगोंके बढ़ते हुए स्वरूपको देखकर मनमें दु:ख होना स्वाभाविक ही है। वास्तवमें काल, इन्द्रियार्थ और कर्मका हीनयोग, मिथ्यायोग और अतियोग रोगके कारण होते हैं। उक्त क्रियाओंसे पञ्चतत्त्वोंमें विषमता आ जाती है। यह विषमता प्रकृतिमें भी विकृति लाती है और हमारे शारीरिक तत्त्वोंको भी विकृत करके रोगका कारण सिद्ध होती है।

आज संसारके प्राणियोंकी जैसी स्थिति है, वैसी स्थितिका वर्णन हमें आयुर्वेदमें मिलता है। एक बार संसारके प्राणियोंके दु:खसे दु:खी हो ऋषि-महर्षि उनके कल्याणकी कामनासे औषधियोंके आकर हिमालयपर आये। सहस्रचक्षु देवराज इन्द्रने इन सभी ऋषि-महर्षियोंको देव-भूमिमें आया देखकर उनका स्वागत किया और उनके आगमनका प्रयोजन पूछा। इसपर ऋषियोंने कहा कि देवराज! संसारमें मनुष्य बहुत ही शारीरिक एवं मानसिक कष्ट पा रहे हैं। क्या उनके कल्याणका कोई मार्ग नहीं है। चिन्तित देवराज इन्द्रने उत्तर देते हुए स्पष्ट किया कि सर्वप्रथम ब्रह्माने प्रजापतिको आयुर्वेदका ज्ञान कराया। तदनन्तर प्रजापतिने अश्विनीकुमारोंको और अश्विनीकुमारोंने मुझे जनकल्याणार्थ आयुर्वेदका उपदेश किया था। आयुर्वेदप्रोक्त उन्हीं दिव्य महौषधियोंके विषयमें मैं आप सबको बताऊँगा। आप सब ध्यान देकर सुनें—महर्षियो! इस हिमालयप्रदेशमें अगम्य स्थानोंपर कठिनतासे प्राप्त होनेवाली ऐसी अनेक औषधियाँ हैं, जो कि देवताओंको प्रिय हैं और जिनके प्रभाव भी दिव्य ही होते हैं। इनमें अनेक औषधियाँ तो साधारण मनुष्योंको दिख भी नहीं पातीं, इनकी प्राप्तिके लिये पूर्ण तपोमय जीवन, त्याग तथा सात्त्विक भावना, ब्रह्मचर्यजीवन और लोक-कल्याणकारी विचार होना परम आवश्यक होता है। आप-जैसे महानुभावोंको उनका ज्ञान कराते हुए मुझे जरा भी संकोच नहीं हो रहा है। असंख्य दिव्य औषधियोंमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—ऐन्द्री, पयस्या, ब्राह्मी, शंखपुष्पी, श्रावणी, महाश्रावणी, शतावर, विदारीकन्द, जीवन्ती, पुनर्नवा, नागबाला, स्थिरा, बचा, क्षत्रा, अतिक्षत्रा, मेदा, महामेदा, काकोली, जीवक, ऋषभक, मधुयष्टी, मुद्गपर्णी तथा माषपर्णी आदि। इन औषधियोंकी जब आप आवश्यकताका अनुभव करें तो सर्वप्रथम शुभ मुहूर्तमें पवित्र होकर शुभ भावनासे इनके समक्ष जाकर इन्हें सम्बोधित करते हुए लोककल्याणका अपना उद्देश्य बतायें, वनस्पतियोंमें प्राण होते हैं। तदनन्तर 'मैं आपको ग्रहण करना चाहता हूँ', ऐसा विचार प्रकट कर शुभ दिन, शुभ कालका निमन्त्रण दें। फिर पवित्र होकर उस शुभ दिन, शुभ कालमें मन्त्रोंसे इन्हें अभिमन्त्रित करते हुए औषधियोंको किसी भी प्रकारका क्लेश न हो, इसका ध्यान रखते हुए इनका उत्पाटन करें अर्थात् उखाड़ें। इस विधिसे ग्रहण की हुई औषधियोंका सेवन दु:खी प्राणियोंको विधिपूर्वक गायके दूधके साथ कराना चाहिये।

देवराजके मुखसे दिव्य औषधियोंके नाम तथा विधि जानकर सभी ऋषि-महर्षि गद्गद हो गये। पुन: उन्होंने प्रश्न किया कि हे देवताओंके देव! कृपया हमें यह भी निर्देश करें कि इन औषधियोंका विशेषरूपसे प्राणियोंपर क्या प्रभाव होता है?

इन्द्र बोले—'इन दिव्य औषधियोंके सेवनसे मनुष्योंकी आयु तरुण रहेगी। आरोग्यको प्राप्त होकर शरीरका वर्ण भी सुन्दर होगा, आवाज भी सुन्दर होगी और शरीर पुष्ट होकर बुद्धि-स्मृति भी पुष्ट होगी। परिणामस्वरूप बलकी वृद्धि होकर सभी आकांक्षाएँ पूर्ण होती हैं।' तदनन्तर देवराज इन्द्र बोले कि मेरी इच्छा है कि आप सब जनकल्याणके हेतु इन दिव्य औषधियोंकी जानकारी मनुष्योंको करायें।

देवराज इन्द्रके ये वचन सुनकर सभी ऋषि बोले कि हे देवेश! हम आपकी आज्ञाका पूर्णरूपसे पालन करेंगे।

तदनन्तर देवराजकी आज्ञा लेकर सारे ऋषि-समुदायने अपने-अपने आश्रमोंकी ओर प्रसन्नमुद्रामें प्रस्थान किया।

देवराज इन्द्रसे भारद्वाज ऋषिने दिव्य औषधियोंका वर्णन सुनकर यथावत् पुनर्वसु आत्रेयको सुनाया। महर्षि आत्रेयने उसे अपने छ: शिष्योंको समझाया। शिष्योंने भलीभाँति समझकर अपने-अपने ग्रन्थ रचे, जिनमें कि इन औषधियोंका वर्णन मिलता है। इन्हीं दिव्य औषधियोंका यहाँ संक्षिप्त रूपमें वर्णन किया जा रहा है—

ऐन्द्री (इन्द्रायण)—यह औषधि दो प्रकारकी होती है—सफेद पुष्पवाली और लाल पुष्पवाली। कहीं-कहीं पीले पुष्पवाली ऐन्द्रीको इन्द्रावारुणी, गवादनी, मृगादनी, विषाध्वनि, गवाक्षी तथा सूर्या नामसे सम्बोधित किया जाता है।

१. लाल इन्द्रायण—इसे विशाला, महाफला, चित्रफला, त्रयूसी, रम्यादिहीवल्ली, महेन्द्र वारुणी—इन नामोंसे सम्बोधित किया गया है।

२. श्वेतपुष्पी—अर्थात् बड़ी इन्द्रायणीको मृगाक्षी, नागदन्ती, वारुणी, गर्जचिभटा—इन नामोंसे जाना जाता है।

इन औषधियोंकी लता होती है जो कि भारतमें सर्वत्र देखी जाती है। इसका स्वाद दो प्रकारका होता है कड़वा एवं मीठा। औषधियोंमें कड़वी इन्द्रायणीका ही प्रयोग होता है। इसकी बेल जमीनपर फैलती है। बेलके पत्ते कई कोणवाले होते हैं। बेलमें फल एवं फूल भी लगते हैं।

उपयोग—इसका प्रयोग पेटकी शुद्धिके लिये होता है। मूढगर्भको निकालनेके लिये भी इसका सफल प्रयोग होता है। उदर-संस्थानके सभी रोगोंपर इसका हितकारी प्रभाव होता है। पित्तकी विकृतिमें भी यह बड़ी लाभदायक होती है।

ब्राह्मी—यह औषधि हिमालयपर विशेष प्रकारसे प्राप्त होती है। सभी स्थानोंपर जो ब्राह्मी मिलती है, वह वास्तवमें ब्राह्मीका भेद मण्डूकपर्णी नामक औषधि है। असली ब्राह्मी हिमालय एवं पंजाबके पर्वतीय भागोंमें मिलती है। इसे संस्कृतमें कपोतबंका, सरस्वती, सोमवल्ली—इन नामोंसे जाना जाता है। इस वनस्पतिके छोटे-छोटे गोल पत्ते होते हैं, जो कि पृथक्-पृथक् तनेसे सम्बन्धित होते हैं। यह जलयुक्त एवं जलके निकटवर्ती भागोंमें उत्पन्न होती है। इसमें फूल भी लगते हैं।

उपयोग—ब्राह्मीका उपयोग विशेषकर मस्तिष्क-रोग एवं वातनाडीकी विकृतिपर होता है। यह अपस्मार, उन्माद तथा हृदयके लिये हितकारी है। यह शीतल होती है और परम रसायन मानी गयी है। ब्राह्मी कुष्ठ, प्रमेह, रक्तविकार, पांडु तथा शोथके लिये विशेष हितकारी होती है।

शंखपुष्पी—यह औषधि हिमालयकी चार हजार फुटकी ऊँचाईतक प्राप्त होती है। यह सीलोन, बर्मा तथा अफ्रीकाके कुछ भागोंमें भी प्राप्त होती है। इसे प्राचीन ग्रन्थोंमें शंखहवा, शंखा, मांगलय, कुसमा—इन नामोंसे सम्बोधित किया गया है। इसके क्षुप (छोटे तने या झाड़) जलासन्न भूमिमें पैदा होते हैं। यह एक हाथतक ऊँचा होता है। इसमें अनेक शाखाएँ होती हैं। पत्ते पतले और लम्बे शंखकी तरह आवर्तित होते हैं। इसके पुष्प श्वेत, रक्त एवं नील वर्णके होते हैं। परंतु व्यवहारमें आनेवाली शंखपुष्पी श्वेतपुष्पी ही श्रेष्ठ एवं उपयोगी होती है। यह उष्णवीर्य एवं रसायन होती है। मेधाके लिये अत्यन्त लाभकारी है। मानसिक विकारोंको तथा अपस्मारको नष्ट करती है। स्वर एवं कान्ति तथा निद्रा लानेके लिये परम उपयोगी है।

जीवन्ती—इसे संस्कृतमें मधुश्रवा भी कहते हैं। यह एक प्रकारकी बेल होती है जो काफी ऊँची बढ़ जाती है। यह औषधि हिमालयके अधिक ऊँचाईवाले क्षेत्रमें प्राप्त होती है और तोड़नेपर छ: महीनेतक नहीं सूखती। यह वायु, पित्त एवं कफ—इन तीनों दोषोंको नष्ट करनेवाली होती है। यह परम रसायन, बलकारी, नेत्रोंके लिये हितकारी, दस्त बाँधनेवाली और शीतवीर्य औषधि है। यह वीर्यवर्धक होती है। सभी महर्षियोंने इसका प्रयोग शाकमें श्रेष्ठ माना है। इसकी जड़का चूर्ण तीन ग्रामकी मात्रामें दूधके साथ सेवन करना चाहिये। जो व्यक्ति किसी भी प्रकारके विषसे ग्रसित हो, जिन्हें रातको कम दिखायी देता हो, ऐसे व्यक्तियोंके लिये यह परम हितकारी है।

ब्रह्मदण्डी—इसे अजदण्डी भी कहते हैं। इसका एक प्रकारका क्षुप (तना) होता है जो एक फुटसे चार फुट ऊँचा होता है। इसके पत्ते एकसे तीन इंच लम्बे होते हैं।

ब्रह्मदण्डी उष्णवीर्य होती है। यह वायु एवं कफको नष्ट करती है। इसका विशेष प्रयोग स्मृतिवर्धनादि तथा श्वेतकुष्ठ, चर्मरोग एवं कृमिनाशके लिये होता है। यह अपस्मार, उन्मादपर भी विशेष लाभकारी होती है। क्लीबता नष्ट करनेके लिये इसका सफल प्रयोग होता है। इसका ठंडईके रूपमें भी प्रयोग होता है। कुछ महर्षियोंके मतसे यह पारदको बाँधनेके लिये भी सफल सिद्ध है। ब्रह्मदण्डी हिमालयके अतिरिक्त महाबलेश्वर, मद्रास, मैसूर तथा मध्य भारतके पर्वतोंपर भी उपलब्ध होती है।

रुद्रवन्ती—इसे चणपली तथा संजीवनी भी कहते हैं। इस औषधिके छोटे-छोटे छ:से अठारह इंच ऊँचे क्षुप (तने) होते हैं, जिनमें अनेक शाखाएँ एवं अनेक छोटे-छोटे चनेके

समान पत्ते होते हैं। इसकी उत्पत्ति उष्ण प्रदेशोंमें तथा सीलोनमें होती है।

यह उष्णवीर्य, परम रसायन औषधि है तथा क्षय, कास, श्वास, प्रमेह, रक्तपित्त, कृमिरोगको नष्ट करती है। इसके पत्तेका चूर्ण दोसे चार ग्रामकी मात्रामें जल या दूधके साथ सेवन करना उपयुक्त है।

उक्त नामोंसे आजकल जो औषधियाँ प्रचलित हैं, उनके सम्बन्धमें अभीतक भिन्न-भिन्न आचार्योंके मतोंकी सुनिश्चित धारणा नहीं बन पायी है। इन दिव्य औषधियोंकी वास्तवमें जानकारी तथा इनकी उपलब्धि न होनेके कारण तद्‌गुणसमा (उनके समान गुण-धर्मवाली) औषधियोंका ही प्रयोग हो रहा है।

पौराणिक कथा है कि दीर्घकालसे घोर तपस्यामें लीन महर्षि भार्गव (च्यवन)-का सम्पूर्ण शरीर मिट्टीसे ढक गया, केवल उनके नेत्र खुले रह गये थे। राजा शर्यातिकी पुत्री सुकन्याने भ्रमसे महर्षिके नेत्रोंको शलाकासे बींध दिया। फलस्वरूप उनमेंसे रक्त प्रवाहित हो उठा। शापके भयसे राजा शर्यातिने महर्षिकी सेवा-शुश्रूषाके लिये अपनी कन्याका उनसे विवाह कर दिया।

सुकन्या एक दिन सरिताके तटपर जल भरने गयी थी। वहाँ उसे अप्रतिम सौन्दर्यवाले अश्विनीकुमारोंके दर्शन हुए। सुकन्याकी परिस्थितिपर उन्हें दया आयी और उन्होंने उसे एक प्रयोग बताया। उसके फलस्वरूप महर्षिकी नेत्रज्योति लौट आयी और वे पूर्णरूपसे युवा भी हो गये। यही च्यवन ऋषिके नामसे प्रख्यात हुए। इन्होंने जिन औषधियोंका सेवन कर पुनर्जीवन प्राप्त किया था, उनके वर्णन विशेषरूपसे इन नामोंसे प्रचलित हैं—

जीवक, ऋषभ (ऋषभक), मेदा-महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्‌गपर्णी, मांसपर्णी, जीवन्ती और मुलहठी। इन औषधियोंके साथ ऋद्धि तथा वृद्धिको मिला देनेसे अष्टवर्ग बनता है।

जीवक-ऋषभक—ये दोनों औषधियाँ हिमालय पर्वतपर उत्पन्न होती हैं। इनके कन्द लहसुनके समान होते हैं। भीतरसे ये कन्द खोखले होते हैं। इनके पत्र सूक्ष्म होते हैं। जीवकका आकार कूर्चा तथा ऋषभकका बैलके सींगके समान होता है।

मेदा-महामेदा—इनकी उत्पत्ति भोरंग प्रदेशमें होती है। महामेदा सूखे अदरकके समान होती है। इसकी लता पीले रंगकी होती है। मेदाका वर्ण श्वेताभ होता है। खुरचनेपर इसमेंसे मेद धातुके समान द्रव भी निकलता है।

काकोली-क्षीरकाकोली—इनकी भी उत्पत्ति भोरंग देशमें मानी जाती है। काकोली कुछ कृष्णवर्ण असगन्धके आकारकी होती है। क्षीरकाकोली श्वेतवर्णकी पीवरी असगन्धके समान होती है। इसमें गन्धयुक्त दूधका स्राव होता है।

ऋद्धि-वृद्धि—इनकी उत्पत्ति श्यामल प्रदेशमें मानी गयी है। ऋद्धिका फल कपासकी गाँठकी भाँति बायेंसे दायें तथा वृद्धिका दायेंसे बायेंकी ओर घूमा हुआ होता है।

उपर्युक्त औषधियाँ हिमालय पर्वतपर प्राप्त होती हैं। इनमें कच (काँटे) होते हैं। वैसे आजकल ये औषधियाँ दुर्लभ ही हैं। संक्षिप्तमें ये औषधियाँ धातुओंको पुष्ट करने, वीर्य बढ़ाने तथा शारीरिक और मानसिक तत्त्ववृद्धिमें अति गुणकारी होती हैं। साथ ही कफको बढ़ानेवाली, स्त्रियोंके दूधमें वृद्धि करनेवाली तथा गर्भदायक भी मानी गयी हैं। पित्तविकार, दाह, शोक, ज्वर, रक्तपित्त, प्रमेह तथा क्षयरोगोंमें भी इनका प्रयोग अति प्रभावशाली सिद्ध होता है। वृद्धावस्थाको समाप्त कर नवयौवन प्राप्त करनेमें भी ये औषधियाँ काफी लाभप्रद हो सकती हैं। इन औषधियोंकी दुर्लभता-सी है। अत: इनके गुणोंका प्रतिनिधित्व करनेवाली अन्य औषधियाँ भी खोजी गयीं। चिकित्सकोंने मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोलीके स्थानपर शालम मिश्री, शकाकुल मिश्री, बहुमन सफेद तथा बहुमन सुर्खको उपयोगमें लानेकी बात कही है। आचार्य भावमिश्रने भी महामेदाके लिये शतावर, जीवक तथा ऋषभकके लिये विदारीकन्द, काकोली, क्षीरकाकोलीके लिये अश्वगन्धा, ऋद्धि और वृद्धिके लिये वाराही कन्दका उपयोग करनेके लिये कहा है।

इन चारों औषधियोंके मूल-कन्द ही उपयोगमें आते हैं। इनके गुणोंमें भी समानता पायी जाती है। ये भारी, शीतल, स्वादिष्ठ, वीर्यवर्धक तथा जीवनीय शक्तियोंको बढ़ानेवाली होती हैं। नेत्रोंकी दुर्बलताको भी नष्ट करनेमें सहायक होती हैं।

विश्वकी दृष्टि हमारी जड़ी-बूटियोंपर

(श्रीदीनानाथजी झुनझुनवाला)

प्रकृतिने मनुष्यके प्रादुर्भावके पहले ही विभिन्न प्रकारकी जड़ी-बूटियाँ एवं वनस्पतियाँ पैदा कर दीं। इन जड़ी-बूटियोंमें वे सारी गुणवत्ताएँ स्थित हैं, जो रोगी होनेसे बचाने तथा रोगको ठीक करनेके लिये आवश्यक हैं।

मनुष्यने सबसे पहले कब और किस पौधेका उपयोग औषधिके रूपमें किया था, इसका कोई प्रामाणिक दस्तावेज उपलब्ध नहीं है, पर हमारे देशमें ऋग्वेद औषधीय पौधोंके विषयमें जानकारी प्रदान करनेवाला प्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ है। ऋग्वेदके द्वारा पता चलता है कि आर्य मनीषी प्राचीन कालमें 'सोम' नामक पौधेका उपयोग औषधिके रूपमें करते थे। प्राचीन भारतीय चिकित्सा-पद्धतिमें जड़ी-बूटियोंसे निर्मित औषधियोंका अधिक वर्णन मिलता है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि मनुष्यने रोगग्रस्त होते ही पहले उन पौधोंका औषधिके रूपमें उपयोग किया जो उन्हें अपने नजदीक सरलतासे मिल जाते थे। यही कारण है कि वैदिक चिकित्सकों एवं ग्रन्थकारोंने यह निष्कर्ष निकाला कि रोगी अपने आस-पास उगनेवाली जड़ी-बूटियोंसे ही ठीक हो सकता है। उसे जड़ी-बूटियोंकी खोजमें व्यर्थ ही दूर देशतक भटकनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

जड़ी-बूटियोंके विदेशी शोधकर्ताओंने सदासे ही जंगलमें रहकर विभिन्न प्राकृतिक औषधियोंसे चिकित्सा कर रहे व्यक्तियोंको सम्मान दिया है। एक ब्रिटिश विशेषज्ञ अपनी पुस्तकमें लिखते हैं कि यदि भारतीय जड़ी-बूटियोंके विषयमें जानकारी चाहिये तो आपको जंगलसे जुड़े लोगोंपर विश्वास करना होगा, उनके साथ रहना होगा और जड़ी-बूटियोंके अन्वेषणमें घने जंगलोंके अंदर जाना होगा तथा ऊँचे पहाड़ोंपर भी चढ़ना होगा।

विश्वमें जड़ी-बूटियोंसे निर्मित औषधियोंका प्रचलन जोरोंपर है। नवीनतम आकलनके अनुसार वर्तमानमें विश्वमें लगभग तीन लाख करोड़ रुपयेकी जड़ी-बूटीसे बनी औषधियोंकी बिक्री हो रही है। जड़ी-बूटीके क्षेत्रमें विश्वकी प्रमुख कम्पनियाँ प्राकृतिक रूपसे सम्पन्न भारतको आधार बनाना चाह रही हैं। भारतमें वैदिक कालसे ही औषधीय महत्त्व रखनेवाले पौधों, लताओं और वृक्षोंकी पहचान की गयी है। जड़ी-बूटियोंके चमत्कारिक औषधीय प्रभावको वैज्ञानिक धरातलपर जाँचा-परखा जा चुका है। आज भी आयुर्वेदिक दवाओंका प्रचलन देहातों, कस्बों और छोटे शहरोंमें अधिक है। महानगरोंका सम्पन्न वर्ग भी एलोपैथिक दवाओंके दुष्प्रभावोंसे घबड़ाकर आयुर्वेदकी ओर लौटने लगा है। एकाएक ही विश्वमें एलोपैथिक दवाओंके स्थानपर वैकल्पिक जड़ी-बूटीकी परम्परागत दवाओंकी तरफ लोगोंका झुकाव बढ़ने लगा है। अनेक कम्पनियोंने जड़ी-बूटी (हर्बल) सौन्दर्य-प्रसाधनोंके उत्पादनोंको बाजारमें उतारा है। भारतसे औषधीय पौधे, वृक्ष-उत्पादोंका निर्यात भी जोर पकड़ रहा है। वर्तमानमें चार सौ छत्तीस करोड़ रुपयोंके औषधीय पौधोंका निर्यात हो रहा है। इसके निर्यातमें सौ गुनातक वृद्धि होनेकी पूरी सम्भावना है।

महर्षि चरकको 'चरकसंहिता' में पेड़-पौधोंके औषधीय महत्त्वकी गहन विवेचना की गयी है। इसमें प्रत्येक पेड़-पौधोंकी जड़से लेकर पुष्प, पत्ते और अन्य भागोंके औषधीय गुणों और उनसे रोगोंके उपचारकी विधियाँ वर्णित हैं। आयुर्वेदके देवता धन्वन्तरिने जड़ी-बूटियोंके अलौकिक संसारसे जगत्‌का साक्षात्कार कराया है। पेड़-पौधोंका औषधीय महत्त्व अनेक पौराणिक आख्यानोंमें व्यक्त हुआ है। पीपलमें भगवान् विष्णुका वास बताया गया है। बीसवीं सदीमें वैज्ञानिकोंने यह खोज निकाला कि केवल पीपल ही एक ऐसा वृक्ष है, जो रात-दिन ऑक्सीजन छोड़ता है, जबकि अन्य पेड़ रातको कार्बन डाइ-आक्साइड छोड़ते हैं। घरोंमें तुलसीके पौधोंके पूजनकी सुदीर्घ परम्परा है। तुलसीके पौधेके सभी भाग यानी जड़, फूल, फल, पत्ती तथा डंठल आदिका औषधीय महत्त्व है। भारतमें वर्षोंसे जहरीले आकके पौधेसे फोड़े-फुंसीका

उपचार किया जाता है। गाँवोंसे शहरोंतक नीमके औषधीय गुणोंसे कौन अपरिचित है? चर्मरोगमें, कपड़ोंको कीड़ोंसे बचानेमें, दाँतोंको नीरोग रखनेमें तथा अनाजको घुन लगनेसे बचानेमें नीमका उपयोग सदियोंसे लोग करते आये हैं। नीम-खलीकी खाद दोहरा काम करती है—खादका तथा फसलको कीटाणुमुक्त रखनेका। चेचकके फैलनेपर नीमकी पत्तियोंको दरवाजेपर बाँधनेकी पुरानी परम्परा है। विवाहके अवसरपर कहीं-कहीं वरपक्ष जब कन्यापक्षके दरवाजेपर जाता है और तोरण मारता है तो वह भी नीमकी ही डाली रहती है।

विश्व-स्वास्थ्य-संगठनने कहा है कि अगले बीस वर्षोंमें यानी सन् २०२० ई० तक एलोपैथीकी एंटीबायटिक दवा मनुष्यके शरीरपर असर करना बंद कर देगी, यानी शरीर एंटीबायटिकके प्रति इम्यून हो जायगा। यह स्थिति आनेसे पहले ही पूरे विश्वको सचेत हो जाना होगा कि तब शरीरको एलोपैथी पद्धति कैसे नीरोग रख पायेगी। इसका एकमात्र उपाय है जड़ी-बूटियोंका अधिकाधिक उपयोग। यही कारण है कि विश्वका झुकाव जड़ी-बूटियोंके उपयोगकी ओर बढ़ा है। सारे विश्वकी निगाहें हमारे देशकी जड़ी-बूटियोंपर लगी हैं। क्यों? कारण, हमारे पास जड़ी-बूटियोंके विज्ञानका शास्त्र आयुर्वेदके रूपमें उपलब्ध है। हमारा आयुर्वेद विश्वका प्राचीनतम शास्त्र है। हमारी जड़ी-बूटियाँ भी सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न हैं। कारण, प्रखर सूर्य तथा सभी प्रकारके मौसम ही उन्हें शक्तिसम्पन्नता प्रदान करते हैं। विकसित देशोंके पास प्रखर सूर्य नहीं हैं तथा इतने मौसम भी वहाँ नहीं होते हैं। यही कारण है कि हमारी जड़ी-बूटियाँ दुनियामें सर्वाधिक प्रभावशाली हैं। हमें केवल इसका प्रसार-प्रचार करके इसे विश्वव्यापी बनाना है।

आज केवल आयुर्वेदकी प्रामाणिकताके आधारपर विश्वबाजार हमारी जड़ी-बूटियोंकी ओर आकर्षित नहीं होगा। विदेशोंमें आकर्षण बढ़ाने-हेतु प्रयोगशालामें जाँच तथा क्लिनिकल ट्रायल भी आवश्यक है। विश्वके सामने जब सप्रमाण सारी गुणवत्ता रखी जायगी तो हमारे देशकी जड़ी-बूटियोंकी माँग विश्व-स्तरपर बढ़ना अवश्यम्भावी है। हमें विकसित देशोंकी आवश्यकताके अनुरूप तो निर्माण करना ही होगा, हमारे देशवासियोंमें भी जड़ी-बूटियोंसे निर्मित औषधियोंके उपयोगके प्रति भी पुन: आकर्षण पैदा करना होगा। हमारे देशमें जड़ी-बूटियाँ सर्वत्र फैली हैं। जंगल एवं पहाड़ इनसे भरे पड़े हैं। बहुत-सी दुर्लभ जड़ी-बूटियोंको सुरक्षित रखनेकी भी आवश्यकता है, ताकि उनका लोप न हो जाय। हमारी सरकारको भी जड़ी-बूटियोंके महत्त्वके प्रति सचेत होनेकी आवश्यकता है, ताकि आवश्यकताके अनुरूप प्रयोगशालाओंका निर्माण हो तथा उन्हें पूरी गुणवत्ताके साथ सुरक्षित रख सके।

यदि फ्रीज-ड्राइंगकी नयी तकनीकसे जड़ी-बूटियोंको सुखाया जाय तो सारी गुणवत्ताएँ सुरक्षित रहेंगी, जैसे रंग, स्वाद, गन्ध तथा शक्तिसम्पन्नता आदि। इन्हें कैप्सूलमें भरकर वर्षपर्यन्त सुलभ कराया जा सकता है। आयुर्वेदसम्मत जड़ी-बूटियोंको उपयोगी बनाने-हेतु प्राचीन एवं नवीनको एक साथ जुड़ना पड़ेगा। यदि आजके विज्ञानकी देन फ्रीज-ड्राइंग तकनीक न होती तो जड़ी-बूटियोंके सारे गुण-धर्म सुरक्षित रख पाना सम्भव न होता। आजकल रोगोंकी जाँचके भी काफी उपकरण विज्ञानने हमें सुलभ कराये हैं, जबकि पहले केवल नाडीविज्ञान था। जाँच करानेमें इन विज्ञानसम्मत उपकरणोंका उपयोग हमारे लिये अत्यन्त लाभकारी है।

सरकारको जड़ी-बूटियोंके उत्पादन, संरक्षण तथा दवाके रूपमें उपयोग-हेतु फ्रीज-ड्राइंग तकनीकको विकसित करनेकी परम आवश्यकता है। चीन जड़ी-बूटियोंके निर्यातसे २२००० करोड़ रुपये तथा थाइलैंड १०००० करोड़ रुपयेकी विदेशी मुद्रा अर्जित कर रहा है। निर्यातके इन आँकड़ोंके सामने हमारा निर्यात नगण्य है। यदि हमने ध्यान नहीं दिया तो हमारी जड़ी-बूटियाँ विदेशोंसे निर्मित होकर हमारे ही देशमें आयेंगी और हमें ऊँचे मूल्योंमें खरीदनेके लिये विवश होना पड़ेगा। यदि ऐसा हुआ तो यह हमारा घोर निन्दनीय अपराध होगा और भावी पीढ़ी हमें कभी क्षमा नहीं करेगी। भविष्यमें स्वस्थ रहनेका विकल्प केवल जड़ी-बूटियोंके अधिकाधिक सेवनमें ही निहित है।

सच्ची घटना—

आयुर्वेदकी अनूठी चिकित्सा

(गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी, पिलखुआ)

एक रियासतके राजा अचानक गम्भीर रूपसे अस्वस्थ हो गये। भूख-प्यास पूरी तरह समाप्त हो जानेसे उनका शरीर पीला पड़ता गया और जर्जर होने लगा।

राजकुमार तथा अन्य परिवारजनोंने बड़े-बड़े चिकित्सकोंसे उनकी जाँच करायी। अन्तमें उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि इनके शरीरकी ग्रन्थियोंसे निकलकर मुँहमें आनेवाला विक्षेप द्रव्य, जिसे लार कहते हैं, बनना बंद हो गया है। लार ही पाचन-क्रियाका प्रमुख साधन है। उसका बनना बंद होनेसे उन्हें भूख-प्याससे वञ्चित होना पड़ा है।

ऐलोपैथी पद्धतिके बड़े-बड़े चिकित्सकोंको बम्बई-कलकत्तातकसे बुलाया गया, कई विदेशी डॉक्टर भी बुलाये गये। सभीने अपनी-अपनी दवाएँ दीं, किंतु राजा साहबको रोगमुक्त नहीं किया जा सका। अब तो राज्यके तमाम लोग यही समझने लगे कि राजा साहबकी मृत्यु संनिकट है।

एक दिन अचानक राज्यके किसी गाँवके वयोवृद्ध आयुर्वेदाचार्य वैद्यजी नगरमें आये। उन्हें बताया गया कि हमारे राजा साहब एक भयंकर बीमारीसे ग्रस्त हैं। यह बीमारी असाध्य घोषित की जा चुकी है। कलकत्ता-बम्बईतकके डॉक्टर उनका इलाज करनेमें असमर्थ रहे हैं।

वैद्यजी राजाके प्रधानमन्त्रीके पास पहुँचे और बोले—'मैं भी आपके राज्यका एक नागरिक हूँ। मैंने जब राजा साहबकी बीमारीके बारेमें सुना तो अपना कर्तव्य समझकर राजमहलतक आया हूँ। क्या मैं राजा साहबको देख सकता हूँ?' पहले तो प्रधानमन्त्रीने उस धोती-कुर्ता पहने, माथेपर तिलक लगाये सादे वेश-भूषावाले ग्रामीण वैद्यको देखकर उपेक्षा-भाव दर्शाया, परंतु अन्तमें सोचा कि राजाको इन्हें दिखा देनेमें क्या हर्ज है। उन्हें राजाके कमरेमें ले जाया गया।

वैद्यजीने राजाकी नब्ज देखी। उनकी आँखों तथा जीभका जायजा लिया। अचानक वैद्यजीके मुखपर मुस्कराहट दौड़ गयी। राजकुमार तथा प्रधानमन्त्रीसे बोले—'मैं रोगको समझ गया हूँ। अब यह बताओ कि इन्हें दवा खिलाकर स्वस्थ करूँ या दवा दिखाकर?'

कुछ देर चुप रहनेके बाद वैद्यजीने कहा—'आप १० युवक, १० चाकू तथा १० नीबू मँगाइये। मैं अभी इन्हें रोग-मुक्त करके पूर्ण स्वस्थ बनाता हूँ।' यह सुनकर सभी आश्चर्यमें पड़ गये कि वैद्यजीका यह अनूठा नुस्खा आखिर किस तरह राजा साहबको स्वस्थ कर सकेगा। सबने कहा—'लगता है वैद्य कोई सनकी है।'

विचार-विमर्शके बाद युवकों, चाकुओं तथा नीबुओंकी व्यवस्था कर दी गयी।

वैद्यजीने दसों युवकोंको लाइनमें खड़ा कर दिया। हरेकके हाथमें एक नीबू तथा चाकू थमा दिया। उन्हें बताया कि मैं जैसे ही संकेत करूँ एक युवक राजा साहबकी शय्याके पास पहुँचे, उनके मुखके पास नीबू ले जाय—नीबूको चाकूसे काटे तथा उसके दोनों हिस्से वहाँ रखे बर्तनमें निचोड़ दे। इसके बाद दूसरा युवक भी ऐसा ही करे।

राजा साहबके कमरेमें रानी, राजकुमार, प्रधानमन्त्री आदि बैठे इस अनूठी चिकित्साके प्रयोगको देख रहे थे। वैद्यजीके संकेतपर एक युवक कमरेमें आया—उसने राजासाहबको प्रणाम किया, नीबू मुँहके पास ले जाकर चाकूसे काटा तथा उसके दोनों हिस्सोंको निचोड़ दिया।

तीन युवकोंके इस प्रयोगके बाद राजासाहबने जीभ चलायी। चौथे युवकने जैसे ही नीबू काटकर रस निचोड़ा कि राजासाहबकी आँखोंमें चमक आने लगी। नीबूके रसकी धारको देखकर नीबूका चिन्तन करके राजासाहबके मुँहमें पानी (लार) आने लगा था। उनकी ग्रन्थियोंने लार बनानी शुरू कर दी थी।

देखते-ही-देखते राजा साहबका मुँह लारसे भरने लगा। वैद्यजीने उन्हें नीबूके रसमें तुलसीपत्र तथा काली मिर्च डलवाकर पिलवायी। कुछ ही देरमें राजासाहब उठ बैठे। उनके शरीरकी लार बनानेवाली ग्रन्थियाँ अपना कार्य करने लगीं।

अब तो राजासाहबका पूरा परिवार उन ग्रामीण वैद्यजीके प्रति नतमस्तक हो उठा था। बड़े-बड़े अंग्रेजी-पद्धतिके डॉक्टर राजा-साहबको नीरोगी नहीं बना पाये थे, वहीं एक साधारण वैद्यजीने अपने एक देशी नुस्खेसे राजासाहबको रोगमुक्त कर दिखाया था।

राजपरिवारके लोगोंने वैद्यजीको स्वर्णमुद्राएँ इनाममें देनी चाहीं, पर उन्होंने कहा—'मैं इस राज्यका नागरिक हूँ—क्या मेरा यह कर्तव्य नहीं है कि मैं अपने राजाके स्वास्थ्यके लिये कुछ करूँ और उन्होंने इनाम लेनेसे इनकार कर दिया।' [प्रेषक—शिवकुमार गोयल]